सुविधाओं की मुसकान बनाम ज़िंदगी की घिचपिच

घटती ग़रीबी, बढ़ती तकलीफ़ें

ग़रीबों के जीवन का एक समाजशास्त्रीय चित्र

देवेश विजय

ग़रीबी-उन्मूलन की मुहिम आज़ाद हिंदुस्तान की निर्विवादित प्राथमिकताओं में से एक है। पंचवर्षीय योजनाओं से लेकर ज़मीन के बँटवारे की कोशिशों के साथ-साथ मज़दूरों-किसानों के कई आंदोलन इसी सपने को पूरा करने के लिए अलग-अलग नज़रियों से पुरज़ोर प्रयास कर रहे हैं। इनके बावजूद 1973-74 में जब देश भर से ग़रीबी के आँकड़े जमा करने पर पाया गया कि आज़ादी के 26 साल बाद भी भारत की आधी से अधिक आबादी दो वक़्त का भोजन नहीं जुटा पा रही थी।[1] सत्तर के दशक में हरित व श्वेत क्रांति ने देश के कुछ भागों में ज़ोर पकड़ा और चुनावों में ग़रीबी हटाओ का नारा भी बुलंद हुआ। इसके बाद भी 1993 तक भारत में ग़रीबी का अनुपात (प्रति व्यक्ति 150 रुपये मासिक के उपभोग वाली तत्कालीन ग़रीबी रेखा के आधार पर) 45% से नीचे नहीं जा पाया।[2]

जब केंद्र द्वारा 1991 के बाद आर्थिक उदारीकरण की नीति लागू की गयी तो अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं से जुड़े कुछ अर्थशास्त्रियों को छोड़ कर अधिकांश की राय यही थी कि इससे तो देश के निर्धनों पर वज्राघात होगा और ग़रीबी तेज़ी से बढ़ेगी।[3] लेकिन, हाल में विश्व बैंक तथा संयुक्त राष्ट्र जैसी संस्थाओं ने ही नहीं, बल्कि राष्ट्रीय नीति-आयोग एवं पूर्ववर्ती योजना-आयोग ने भी ग़रीबी के

---

[1] अर्थात् 1960-61 के दामों पर प्रति व्यक्ति मात्र 20 रु. महीने की खपत पर निश्चित की गयी ग़रीबी रेखा के नीचे थी. देखें, नीलकंठ रथ (2011) : 40.

[2] भारतीय योजना आयोग (1993) : 21.

[3] भारतीय योजना आयोग (2011) : 04.

अनुपात में पिछली शताब्दी के अंतिम दशक से बढ़ी गिरावट दिखने का दावा किया है। इसी के मुताबिक़ निर्धनों का अनुपात अब 21% (कुछ सर्वेक्षकों के अनुसार 12%) से नीचे आ जाने की बात कही जा रही है।[4] इन सरकारी तथा अर्धसरकारी दावों को सभी अर्थशास्त्रियों ने स्वीकार नहीं किया है।[5] परंतु धीरे-धीरे अधिकतर विशेषज्ञ यह मानने लगे हैं कि सहस्राब्दी के बदलने के साथ न केवल भारत के सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि-दर बढ़ी है, बल्कि करोड़ों परिवार भी अप्रत्याशित रूप से ग़रीबी रेखा से ऊपर उठ गये हैं।[6]

इस तरह की आम सहमति के बावजूद ग़रीबी से जुड़े कई प्रश्नों पर बड़े मतभेद क़ायम हैं। इस सिलसिले में पूछा जाता है कि ग़रीबी से जंग में बड़ा मोड़ 1991 के बाद ही क्यों आया? क्या यह सफलता बाज़ार को अधिक छूट देने से मिली, या इन्हीं दशकों में 'सशक्त होते प्रजातंत्र' व नवगठित राजनीतिक दलों के दबाव में बनाए गये लोक-कल्याण कार्यक्रमों का भी इसमें योगदान रहा? देश में ग़रीबी मापने वाली प्रमुख संस्था राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संस्थान (एनएसएसओ) के आँकड़े किस हद तक विश्वसनीय हैं? और क्या ग़रीबी की परिभाषा और आकलन की विधि में आज परिवर्तन की ज़रूरत है?[7]

ऐसे ही प्रश्नों के मद्देनज़र कुछ विश्लेषकों ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि ग़रीबी तथा संबंधित मुद्दों की सच्चाई बेहतर समझने के लिए अर्थशास्त्रियों को सरकारी आँकड़ों पर ही भरोसा करने की बजाय मानवशास्त्र की सूक्ष्म विधियों को भी विश्लेषण में अपनाना चाहिए।[8] इसी सुझाव के चलते हाल ही में कुछ विद्वानों ने गाँवों तथा क़स्बों में बदलते हालात को अंतरविषयक अध्ययन से समझने का भी प्रयास किया है।[9] बावजूद इसके ऐसी बस्तियों का दीर्घकालीन अध्ययन हमारे देश में अब भी नाकाफ़ी है।

प्रस्तावना

इसी रिक्तता को और कम करने के लिए तथा ग़रीबी से परे मेहनतकशों की अन्य बढ़ती परेशानियों को रेखांकित करने के उद्देश्य से इस अध्ययन में मैंने राष्ट्रीय राजधानी-क्षेत्र के एक गाँव तथा एक मलिन बस्ती के माली हालात में पिछले तीस वर्षों में आने वाले बदलावों की रूपरेखा पेश करने का प्रयास किया है। ऐसा सीमित और स्थानीय चरित्र का अध्ययन राष्ट्रीय या प्रांतीय स्तर पर वैध सामान्यीकरण की इजाज़त नहीं देता। परंतु आधिकारिक आँकड़ों में छिपे रहने वाले कई सत्य ज़रूर उभारता है। द्रष्टव्य है कि अध्ययन-क्षेत्र से मिली जानकारी की तुलना हमने संबंधित सूक्ष्म एवं बृहत सर्वेक्षणों से भी निरंतर करने का प्रयास किया है।

मोटे तौर पर, हमारा शोध दर्शाता है कि आर्थिक उदारीकरण के दौर में इस गाँव एवं मलिन बस्ती में ग़रीबी निश्चय ही घटी; लेकिन इस की सीमित गिरावट किसी बड़े कायापलट को अंजाम नहीं दे पाई। अधिक चिंता की बात यह है कि माली हालात में आये कुछ सुधारों के बावजूद इस

---

[4] वी. सीतारमण, एस.ए. परांजपे तथा टी. कृष्णकुमार (1996) : 2499-2505, 2504.

[5] मार्सिओ क्रूज़, जेम्स फ़ॉस्टर तथा ब्रिस कुइलिन (2015), 'ऐंडिंग एक्सट्रीम पॉवर्टी : प्रोग्रेस ऐंड पॉलिसीज़', *पॉलिसी रिसर्च नोट*, वर्ल्ड बैंक ग्रुप, पी.आर.एन. 15/03 : 6. 14 जनवरी, 2018 को http://pubdocs.worldbank.org/en/109701443800596288/PRN03Oct2015 TwinGoals.pdf पर देखा गया; एवं रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया (2012), 'नंबर ऐंड पर्सेंटेज़ ऑफ़ पीपुल बिलो पॉवर्टी लाइन', मुखपृष्ठ http://www.rbi.org.in/scripts/PublicationsView.aspx?id=15283 पर 13 जनवरी, 2018 को देखा गया.

[6] देखें, एस. सुब्रह्मण्यम (2014) : 66-74, 65.

[7] ज्याँ द्रेज़ तथा अमर्त्य सेन (2013) : 177-99.

[8] देखें, शीला भल्ला (2014) : 43-50.

[9] प्रणब बर्धन (1989) : 7-10.

अध्ययन-क्षेत्र में हिंसा, अपंजीकृत अपराध तथा साम्प्रदायिक एवं जातीय तनाव जैसी गम्भीर परेशानियाँ बढ़ गयी हैं। दुर्भाग्य से इन प्रवृत्तियों का समुचित विश्लेषण हमारे देश के विकास-विमर्श में कम ही मिलता है। इस शोध के दौरान सामने आयी इन प्रवृत्तियों के आकार एवं मूल में जाने से पहले शोध-क्षेत्र का संक्षिप्त परिचय देना बेहतर होगा।

अध्ययन-क्षेत्र और पद्धति

मेहनतकशों के बदलते हालात को क़रीब से समझने के लिए चुनी गयी मलिन बस्ती का नाम है अराधकनगर तथा गाँव है धनतला। अराधकनगर दिल्ली— उत्तर प्रदेश सीमा के क़रीब जीटी रोड से सटी 55 साल पुरानी मलिन बस्ती है; जबकि धनतला मेरठ से क़रीब बीस किलोमीटर दक्षिण-पश्चिम में मौजूद ढाई सौ साल पुराना गाँव है। इन दोनों समुदायों से मेरा परिचय 1988 में हुआ था जब मैं इतिहास में एमए करने के बाद अपने एम.फ़िल. शोध-प्रबंध के लिए अभिलेखागारों से परे किसी जीवंत विषय की तलाश कर रहा था।

अराधकनगर मेरे तत्कालीन निवास से केवल तीन किलोमीटर पर स्थित दलित-बहुल बस्ती थी और समाज के तबक़ों को दीर्घकालीन संबंध के माध्यम से समझने की मेरी जद्दोजहद में सहायक दिख रही थी। धनतला से मेरा जुड़ाव अराधकनगर के ही कुछ आप्रवासी परिवारों की मदद से हुआ जिन्होंने 1989 की शुरुआत में ग्रामीण जीवन से मेरा पहला परिचय कराया। इसके बाद मेरा रिश्ता इन बस्तियों के साथ कई पुनरावेक्षी सर्वेक्षणों के माध्यमों से बना रहा। हालाँकि इनमें आयी तब्दीलियों को रेखांकित करने के लिए बड़े पुनरान्वेक्षण मैंने 2005-06 तथा 2013-14 में ही किये।[10]

1988 में अराधकनगर की आबादी 441 थी जिसमें क़रीब 75% दलित थे और 5% सवर्ण। 2014 में इस मलिन बस्ती की जनसंख्या 1700 हो चुकी थी, परंतु जातियों का अनुपात लगभग वैसा ही था। दलितों में ही यहाँ क़रीब दो-तिहाई परिवार वाल्मीकियों के थे तथा शेष जाटवों के। वाल्मीकि बहुल होने के कारण अराधकनगर में सरकारी व निजी क्षेत्रों में काम करने वाले सफ़ाई कर्मचारियों का अनुपात क़रीब 35% है। अन्य कर्मियों में, यहाँ दिहाड़ी मज़दूर, महरियाँ तथा फेरीवाले प्रमुख हैं। धनतला की जनसंख्या 1988 से 2014 के बीच 2080 से बढ़कर 2700 हो चुकी थी। हाल के वर्षों में बढ़ते बहिर्गमन के कारण इसमें क़रीब सौ व्यक्तियों की गिरावट आयी है। संख्या तथा सम्पत्ति, दोनों की दृष्टि से यहाँ गुर्जर जाति का प्रभुत्व रहा है; जबकि, कुम्हारों, दलितों तथा मुसलमानों का अनुपात क्रमशः 11%, 20% तथा 9% है। सवर्णों के तीन परिवार अस्सी के दशक तक धनतला में निवास कर रहे थे, परंतु सभी अंततः शहरों को कूच कर गये। दलितों समेत धनतला के 50% लोग ख़ुद की खेती कर रहे हैं। हालाँकि पाँच एकड़ से अधिक की ज़मीन मुख्यतः गुर्जरों के पास है। गाँव के चार सौ परिवारों में 90 के पास खेती की ज़मीन नहीं है और मात्र 70 ऐसे हैं जो पशुपालन नहीं करते। कृषि के अतिरिक्त क़रीब 15% लोग यहाँ मज़दूरी में तथा 10-10% कारीगरी व छोटी नौकरियों में लगे हैं। रोचक है कि छोटे व्यापारी तथा शिक्षित व्यवसायी भी अब गाँव के कुल कर्मियों का 4% हैं।[11]

हमारे पहले और हाल के सर्वेक्षणों के बीच अराधकनगर तथा धनतला में ग़रीबी तो कुछ कम हुई है परंतु अन्य तकलीफ़ें कई स्तरों पर विकराल रूप धारण कर रही हैं। इनमें बढ़ती असुरक्षा की भावना, संगठित-अपराध व साम्प्रदायिक तनाव तथा तेज़ी से बढ़ती बीमारियों और प्रशासन का गिरता

---

[10] उदाहरण के लिए, सुरिंदर सिंह जोधका (2014) : 26-30.

[11] इन सर्वेक्षणों में मुझे अपने प्रोजेक्ट सहायकों मनोज कुमार, राजेंद्र कुमार, पवन कुमार तथा देवराज सिंह से अमूल्य सहयोग मिला. इन सभी का मैं यहाँ आभार प्रकट करना चाहूँगा. इसके अतिरिक्त मैं कई वित्त अनुदानी संस्थाओं— विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, इंस्टीट्यूट ऑफ़ इकॉनॉमिक ग्रोथ, नेहरू स्मृति संग्रहालय एवं पुस्तकालय तथा भारतीय समाज-विज्ञान अनुसंधान परिषद का भी आभारी हूँ जिन्होंने इस दीर्घकालीन शोध के विभिन्न चरणों में आवश्यक वित्तीय सहायता दी.

परिजनों द्वारा अपने हाल पर छोड़ दिये जाने के बाद बुढ़ापा

स्तर बेहद चिंताजनक है। इससे पहले कि हम अध्ययन-क्षेत्र में ग़रीबी और तकलीफ़ों के बदलते स्वरूप पर तफ़सील से नज़र डालें और जाँचें कि इनकी अभिव्यक्ति विकास-विमर्शों में अपर्याप्त क्यों है, इस शोध की विशिष्ट अवधारणाओं को यहाँ स्पष्ट कर देना उचित होगा।

ग़रीबी और भुखमरी में आयी उल्लिखित गिरावट का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि देश में या हमारे अध्ययन-क्षेत्र में अब हर तरफ़ ख़ुशहाली आ गयी है। असल में 1990 के बाद करोड़ों भारतीय परिवार विपन्नता से बाहर तो आये हैं। परंतु अब भी अधिकांश ऐसे हैं जो मात्र एक पारिवारिक विपदा या बीमारी की मार से वापस ग़रीबी में धसक सकते हैं।

ग़रीबी के पैमाने

ग़रीबी से तात्पर्य किसी भी प्रकार के ऐसे बड़े अभाव से लगाया जा सकता है जिसके कारण जीवन अत्यंत संकुचित तथा कष्टदायक हो गया हो। इस परिप्रेक्ष्य में ग़रीबी वित्तीय होने के अलावा वैचारिक, सामाजिक या विश्वसनीय रिश्तों की भी हो सकती है। परंतु विकास-विमर्श में ग़रीबी को मुख्यत: आर्थिक क़िल्लत के पर्याय के रूप में देखा गया है। आर्थिक आधारों पर भी ग़रीबों की पहचान अलग-अलग देशों में भिन्न रूप से हुई है। जहाँ संयुक्त राज्य अमेरिका में उन परिवारों को निर्धन माना जाता है जो औसतन 65 डॉलर प्रतिदिन की आमदनी से महरूम हैं, वहीं डेनमार्क में उन परिवारों को विशेष सहायता का पात्र माना जाता है जो देश की औसत आय के आधे से कम पर गुज़ारा करते हैं।[12]

भारत जैसे अविकसित देश में ग़रीबों की गणना काफ़ी समय तक, आवश्यक कैलॅरी या दो वक़्त का भोजन न जुटा पाने वाले व्यक्तियों के रूप में की गयी।[13] परंतु जैसे-जैसे देश में ज़रूरी कैलॅरी अंतर्ग्रहण से वंचित लोगों का अनुपात घटा तथा प्रशासन की आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने की क्षमता बढ़ी, सरकार ने, इमदाद के पात्रों को केवल अल्पपोषण के आधार पर गिनने की बजाय अधिक उदार अंतर्वेशन (जैसे सभी बेघरबार लोग) तथा बहिष्करण (जैसे सभी आय कर देने वाले व्यक्ति)

[12] देवेश विजय (2016ख) : 331 से 41.

[13] फ़िलिप एन. जैफ़र्सन (2012) : 2-3; तथा 'द पॉवर्टी लाइन : डेनमार्क' जिसे http://www.thepovertyline.net/denmark/ पर 16 जनवरी, 2018 को देखा गया.

एवं सामाजिक पिछड़ेपन (अनुसूचित जाति आदि से मिले न्यूनतम दस अंकों के आधार) पर चुनने का निर्णय लिया है।[14] इस बृहद बहुआयामी निर्धनता की गणना में इमदाद के पात्र (ग़रीब व कमज़ोर) नागरिकों का अनुपात 2011 की सामाजिक-आर्थिक-जातीय जनगणना में 21% प्रतिशत की बजाय 66% माना गया।[15]

तकलीफ़ की अवधारणा

रोटी, छत व पेय जल का अभाव आर्थिक ग़रीबी के प्रमुख पहलू हैं। इन्हीं के साथ अब निरक्षरता, अल्पायु और बेरोज़गारी जैसी समस्याओं को भी पिछड़ेपन का आधार माना जा रहा है। परंतु, कष्टों के स्रोत, जीवन में और भी हैं। इन में से कुछ ऐसे हैं जिन का अनुभव मुख्यत: आत्मनिष्ठ होता है। अकेलापन, तनाव तथा व्यर्थता का एहसास ऐसे ही विषाद के उदाहरण हैं। व्यक्तिगत स्तर के इन दु:खों के स्रोतों पर केंद्रीय प्रशासन से अधिक स्थानीय इकाइयों, समुदायों व परिवार का हस्तक्षेप अधिक कारगर हो सकता है। परंतु आत्मनिष्ठ कठिनाइयों से परे अपराधों, साम्प्रदायिक व जातीय हिंसा, गम्भीर प्रदूषण इत्यादि पीड़ाएँ भी हैं जिनका आधार 'आर्थिक' तो नहीं हैं, फिर भी परिमेय है और जिनका निदान मुख्यत: प्रशासनिक हस्तक्षेप से ही सम्भव है। इन्हीं पीड़ाओं तथा मुद्दों को हमने यहाँ 'तकलीफ़ों' का नाम दिया है।

समुचित विकास के लिए जिन 'तकलीफ़ों' का निराकरण बेहद ज़रूरी दिखता है उन्हें पाँच भागों में बाँटा जा सकता है : व्यापक हिंसा व असुरक्षा का वातावरण, स्वास्थ्य की बाधाएँ, आर्थिक दुर्गति, पिछड़ा भौतिक ढाँचा और लोक-सेवाओं की ख़स्ता हालत। इनमें से प्राय: हर आयाम के कई उप-आयाम हो सकते हैं। जैसे, असुरक्षा की समस्या को अदण्डित जघन्य अपराधों के अलावा पुलिसिया ज़ुल्म एवं सामाजिक तनाव तथा हिंसा के स्तरों पर भी समझने की ज़रूरत है। इसी तरह, लोक-सेवाओं की लचरता को प्रशासनिक विभागों, कल्याण-कार्यक्रमों तथा स्थानीय बुनियादी सेवाओं के स्तरों पर जाँचा जा सकता है। सभी तकलीफ़ों के बदलते आकार को अध्ययन-क्षेत्र से उदाहरण लेकर हम लेख के अगले हिस्से में तफ़सील से समझने का प्रयास करेंगे।

यह सही है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा रेखांकित सहभागी लोकतंत्र के प्रश्न एवं समान अवसरों के 'अभाव' से संबंधित मुद्दे दीर्घकालीन नीतियों एवं कार्यक्रमों से ही सुलझाए जा सकते हैं, लेकिन संगठित अपराध एवं साम्प्रदायिक तनाव जैसी तकलीफ़ें फ़ौरी समाधानों की अधिक माँग करती हैं। दरअसल, वे किसी भी तरह के विकास का पहला सोपान होती हैं।[16] इस स्थिति में विकास-विमर्श की मुख्य-धारा में 'तकलीफ़ों' की अपेक्षाकृत अनदेखी विचित्र लगती है। ऐसा नहीं है कि जन-जन को त्रस्त करने वाली उल्लिखित यंत्रणाओं की पूर्णत: उपेक्षा हुई है। रोज़मर्रा की बातचीत में तथा मीडिया में भी इन बढ़ी हुई परेशानियों का ज़िक्र आम है। परंतु विकास की संकल्पनाओं में रोज़मर्रा की 'तकलीफ़ों' को जगह कम मिली है। जहाँ अमर्त्य सेन एवं ज्याँ द्रेज़ सरीखे विद्वानों ने विकास की परिभाषा में आमदनी तथा पोषण के साथ समुचित शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधाओं, सामाजिक न्याय व सीमांतों की शासन में भागीदारी तथा 'आवाज़' जैसे मुद्दों को शामिल किया है, वहीं संगठित अपराध और कई प्रांतों में बिगड़ती सुरक्षा व्यवस्था को पर्याप्त तरजीह नहीं दी गयी है। यहाँ तक कि स्वास्थ्य जैसे बुनियादी मुद्दों पर बात करते हुए भी इस विमर्श में सरकारी ख़र्च बढ़ाने पर तो पूरा ज़ोर दिया जाता है, परंतु नक़ली दवाओं की बढ़ती समस्या, फ़रेबी इलाज एवं दूषित खाद्य-शृंखला जैसे

[14] नीलकंठ रथ (2011) : 40-43.

[15] सोशल इकॉनॉमिक, कास्ट सेंसस 2011.

[16] रुचिका चित्रवंशी (2017), यद्यपि 2017-18 के वार्षिक बजट में देश के 40% लोगों को ही नये राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन का लाभार्थी माने जाने की बात कही जा रही है.

गम्भीर ख़तरों पर कम तवज्जो दी गयी है।[17] इसी तरह, सुरक्षा की बात करते हुए प्रोफ़ेसर सेन ने आर्थिक सुरक्षा तथा शासन द्वारा सभी के लिए बीमा इत्यादि कराए जाने पर तो ज़ोर दिया है, परंतु हिंसा एवं भय से मुक्ति जैसी बुनियादी ज़रूरत को अपनी 'स्वतंत्रताओं' बनाम 'विकास' की अवधारणा में कम जगह दी है।[18] ज़ाहिर है विमर्श द्वारा उपेक्षित तकलीफ़ें न केवल अवाम के लिए गम्भीर मुद्दा है और आर्थिक विकास में भी बाधा पेश करती हैं, बल्कि बेहतर प्रशासन के माध्यम से साध्य भी हैं। इसके बावजूद विकास-विमर्श में इन्हें पर्याप्त स्थान क्यों नहीं मिला— यह बेहद विचारणीय है। इसकी विस्तृत चर्चा हम आगे करेंगे। फ़िलहाल अराधकनगर तथा धनतला में पिछले दशकों में ग़रीबी के बदलते स्वरूप को समझना ज़रूरी है।

घटती ग़रीबी के सूचक

किसी भी समुदाय में बदलते जीवन-स्तर को समझने का सटीक पैमाना उसमें मौजूद परिवारों की आमदनी का उतार-चढ़ाव हो सकता है। परंतु ग़रीबों में भी परिवारों की आमदनी के आँकड़े जुटा पाना सरल नहीं है। भारत में राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण कार्यालय (एनएसएसओ) हर पाँच साल में क़रीब एक लाख परिवारों को चुन कर उनकी साप्ताहिक/मासिक/वार्षिक खपत के आँकड़े जोड़ता है। इसी आधार पर देश भर में विभिन्न उपभोग-स्तरों का जनसांख्यिकीय अनुपात प्रकाशित किया जाता है।[19] इसके विपरीत विश्व के बहुत से देश परिवारों की मासिक खपत की बजाय नागरिकों की मासिक/वार्षिक आमदनी को ही जीवन-स्तर मापने का पैमाना मानते हैं।[20]

हमने भी परीक्षित बस्तियों में 2013-14 में हर गली में सामूहिक-वार्ताएँ करके परिवारों की आमदनी को उनमें कार्यरत लोगों के पेशों के आधार पर सूचीबद्ध किया। हालाँकि ये आँकड़े परिशुद्ध नहीं माने जा सकते परंतु व्यक्तिगत-साक्षात्कारों के ज़रिये हर घर से ली जाने वाली जानकारी से एक मायने में बेहतर हैं। ख़ास तौर पर ग्रामवासियों के बीच सामूहिक-वार्ताओं में हमने पाया कि न केवल ग्रामीण पड़ोसियों के बीच आपसी जानकारी काफ़ी रहती है, बल्कि वे इसे अधिक खुले दिल से साझा करने और एक-दूसरे के छिपाव को चुनौती देने में भी कम झिझकते हैं।

ऐसी ही हर गली से हासिल कि गयी जानकारी पर आधारित 2013-14 का हमारा सर्वेक्षण दर्शाता है कि धनतला में क़रीब 15% परिवार और अराधकनगर में 14% परिवार उसी वर्ष की (रंगराजन कमेटी द्वारा निर्धारित) ग़रीबी-रेखा (गाँव में प्रतिदिन 33 रुपये व शहरों में 47 रुपये के बराबर उपभोग) के नीचे आते थे। 1988 में घर-घर जा कर हम ग़रीबों की ऐसी गिनती नहीं कर पाए थे। इस कारण धनतला व अराधकनगर में ग़रीबों के अनुपात में आने वाला अंतर यहाँ निकाल पाना सम्भव नहीं है। परंतु अध्ययन-क्षेत्र में कई और सूचक मिलते हैं जो दर्शाते हैं कि इन बस्तियों के जीवन-स्तर में पिछले तीन दशकों में सुधार निश्चय ही हुआ है।

अराधकनगर तथा धनतला में ग़रीबी घटने का सबसे अच्छा प्रमाण यहाँ के आवासों के कायापलट में दिखता है। हमारे प्रथम सर्वेक्षण में अराधकनगर में 90 आवासों में से केवल दो पक्के थे; 2014 में यहाँ मौजूद 256 परिवारों में से 254 पक्के हो चुके थे। असल में 40 आवास दो-मंज़िला थे और छह तीन-मंज़िला। इसी तरह धनतला में बहुत से घर, विशेषकर दलित टोलों में, कच्चे थे। हाल के सर्वेक्षण में केवल चार घर कच्चे पाए गये— हालाँकि कई अन्य अभी भी अधपक्के थे (अर्थात् ईंटों की दीवारों

---

[17] अमर्त्य सेन (2000).

[18] अमर्त्य सेन (वही) : 44-45.

[19] वही, 16-17.

[20] http://mospi.nic.in/98-consumption-surveys-and-levels-living पर 16 जनवरी, 2018 को देखा.

पर फूस या खपरैल की छत से बने)। 1988 में अराधकनगर में एक झुग्गी की क़ीमत केवल 5,000 रुपये थी, जबकि आज यहाँ एक कमरा 70,000 रुपये से कम में मिलना मुश्किल है। धनतला के छोर पर 1988 में रिहाइशी ज़मीन प्राय: नि:शुल्क मिल सकती थी, जबकि आज इसका मूल्य 1,500 रुपये प्रति गज से कम नहीं है।

आवासों की स्थिति के साथ स्थायी-उपभोक्ता सामग्री पर बदलते स्वामित्व से जीवन-स्तर का अंदाज़ा लगाया जा सकता है। धनतला व अराधकनगर में अपने क्रमिक सर्वेक्षणों में हमने पाया कि दोनों में ही 1989 और 2011 के बीच स्थायी उपभोग-सामग्री में काफ़ी बदलाव आया। द्रष्टव्य है कि

तालिका-1

1989 में अराधकनगर की विभिन्न जातियों में टिकाऊ उपभोक्ता-वस्तुओं का वितरण

जाति/ उपभोक्ता सामग्री	टेलीविज़न	वीडियो प्लेयर	स्कूटर / मोबाइक	कार
दलित (69 परिवार)	16	01	01	00
अन्य (22 परिवार)	05	00	03	01
कुल (91 परिवार)	**21**	**01**	**04**	**01**

स्रोत : सितम्बर-अक्टूबर, 1989 में दो शोध सहायकों के साथ किया गया बस्ती का पूर्ण सर्वेक्षण

तालिका-2

2011 में अराधकनगर की विभिन्न जातियों में टिकाऊ उपभोग-वस्तुओं का वितरण

जातियाँ / वस्तुएँ	टीवी	फ्रिज़	सिलेंडर	कुकर	वाशिंग मशीन	वीडियो प्लेयर	सेल फ़ोन	दुपहिया वाहन	3/4 पहिया वाहन
दलित परिवार (235)	151	69	56	58	22	39	162	28	06
मध्य जाति (32 परिवार)	15	04	03	05	00	02	16	02	00
मुसलमान (05 परिवार)	02	02	01	01	01	00	04	00	00
द्विज (20 परिवार)	10	09	09	09	07	04	12	05	00
कुल (292 परिवार)	**178**	**84**	**69**	**73**	**30**	**45**	**194**	**35**	**06**

स्रोत : 2011 में अराधकनगर के 292 में से 206 परिवारों द्वारा स्वेच्छा से दी गयी जानकारी

तालिका-3

1989 में धनतला में कृषि एवं घरेलू उपयोग के साधन

बैलगाड़ी	टीवी	दोपहिया	ट्रैक्टर	फ्रिज़	वीडियो प्लेयर	नलकूप	कार
200	10	15	20	1	1	45	1

स्रोत : धनतला के 309 परिवारों के बीच 1989 में किया गया सर्वेक्षण

तालिका-4

2011 में धनतला में कृषि एवं घरेलू उपयोग के साधन

समुदाय / वस्तु	परिवार	पशु	ट्रेक्टर	बैल गाड़ी	नलकूप	टीवी	फ्रिज़	सेल फ़ोन	दुपहिया	कार	सबमर्सिबिल पम्प	इनवर्टर	डिश टीवी	वाशिंग मशीन
दलित	85	266	03	46	22	74	18	168	30	02	2	10		8
मुसलमान	33	69	00	07	01	12	08	44	14	00	0	4	5	3
निम्न-मध्य जातियाँ	48	114	00	20	05	36	05	195	12	04	5	9	13	3
उच्च-मध्य जातियाँ	202	758	37	216	126	192	64	764	141	25	38	27	31	44
द्विज	01	00	00	00	00	00	00	01	00	00	0	0	0	0
योग	**369**	**1207**	**40**	**289**	**154**	**315**	**95**	**1172**	**197**	**31**	**45**	**50**	**64**	**58**

स्रोत : 2011 में धनतला के 364 परिवारों के बीच दो स्थानीय शोध सहायकों द्वारा किया गया सर्वेक्षण

ग्रामीण दलितों में भी क़रीब 80% परिवारों में अब टीवी सेट और 25% परिवारों में दुपहिया वाहन मौजूद हैं। निश्चय ही परीक्षित परिवारों में मौजूद उपभोग की ज़्यादातर वस्तुएँ छोटे हाटों में सस्ते दामों पर या पुनः बिक्री के माध्यम से जुटाई गयी हैं, या विवाह इत्यादि मौक़ों पर इकट्ठी हुई हैं। हाल के वर्षों में बहुत से परिवारों ने बैंक एकाउंट खोल लिए हैं तथा बीमा पॉलिसियाँ भी ख़रीद ली हैं। ग़रीब परिवारों का एक बड़ा सपना अपना ख़ुद का घर या छोटी-मोटी ज़मीन की मिल्कियत का होता है। धनतला में 1984 में 110 भूमिहीनों को तीन-तीन एकड़ ज़मीन (मेरठ की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थानीय युनिट व उसके कार्यकर्ता कामरेड सतपाल के सहयोग से) आंदोलन के बाद मिली थी। लाभार्थियों में से कुछ ने ही प्राप्त हुए खेतों को बेचा। लेकिन कुछ अन्य काम-धंधों में लग गये जिसकी वजह से 2014 में हमने देखा कि गाँव के 400 परिवारों में क़रीब 90 के पास पुनः खेती की कोई ज़मीन नहीं है। उधर अराधकनगर सरकारी फ़ाइलों में आज भी अनधिकृत बस्ती है। और यहाँ के कुछ ही परिवारों के पास अन्यत्र कोई अधिकृत आवास है। परंतु हाल में केंद्र और राज्य दोनों सरकारों ने दिल्ली में एक जनवरी, 2017 के पहले से मौजूद किसी भी घर को वैकल्पिक आवास दिये बग़ैर न तोड़ने की घोषणा की है जो हर झुग्गीवासी के लिए एक बड़ी राहत का सबब है।

सरकारी नीतियों तथा अपनी मेहनत के अलावा अर्थ-व्यवस्था के तेज़ी से बढ़ने से भी ग़रीबों के हालात में सुधार आ सकता है। उदारीकरण के बाद हमारे देश में भी ऐसा होने का विशेष कारण असल-मज़दूरी में हुआ इज़ाफ़ा था।[21] हमारे अध्ययन-क्षेत्र में 1988 से ही मज़दूरों की दिहाड़ी खपत-मूल्यों से अधिक तेज़ी से बढ़ी है। अपने प्रथम सर्वेक्षण में मैंने दर्ज किया था कि अकुशल कारीगरों की दिहाड़ी अराधकनगर में मात्र 25 रुपये थी; जबकि कुशल मज़दूरों की क़रीब पचास रुपये रोज़ाना थी। धनतला में उसी साल में पुरुष कर्मियों में ये दरें क़रीब 15 व 30 थीं, और महिलाओं में संबंधित श्रेणियों में क़रीब 25% और कम थीं। 2014 में इनकी मज़दूरी बढ़ कर क्रमशः 350, 550, 250 व 400 रुपये हो चुकी थीं। इस तरह कहा जा सकता है कि अध्ययन-क्षेत्र में 26 सालों में मज़दूरी की औसत वृद्धि क़रीब 14 गुना रही। सरकारी आँकड़ों के अनुसार इसी अंतराल में ख़ुदरा मूल्य क़रीब सात गुना बढ़ा। हालाँकि

[21] फ़िलिप एन. जैफ़र्सन (2012) : 1-4.

मूल्य-वृद्धि का यह आँकड़ा बाज़ारों में दिखने वाली मुद्रा-स्फ़ीति से कम प्रतीत होता है पर यह कहना अनुचित न होगा कि पिछली चौथाई शताब्दी में असल मज़दूरी दर भी ज़रूर बढ़ी है।

यदि हम मूल्य-वृद्धि के सरकारी आँकड़ों को अविश्वसनीय मान लें (जैसा कि ग़रीबों के मुद्रा-स्फ़ीति के अपने अनुभव से ज़ाहिर होता है) तब भी एक अन्य विधि से दिहाड़ी के बदलाव को देखा जा सकता है। यह विधि अलग-अलग वर्षों, युगों व समाजों में अकुशल मज़दूर की दिन भर की दिहाड़ी से ख़रीदे जा सकने वाले निश्चित अनाज (जैसे गेहूँ) की मात्रा की तुलनाओं पर आधारित हो सकती है। धनतला में बुज़ुर्गों से बातचीत करके हमने पाया कि 1930 में इस गाँव में खेत-मज़दूर को अधिकतम तीन किलो गेहूँ (ख़ुद के भोजन को मिला कर) दिन भर काम करने पर मिल सकता था। 1988 में यह मात्रा क़रीब सात किलो प्रतिदिन हो चुकी थी, जबकि 2014 में यह 16 किलोग्राम थी। ये आँकड़े भी उदारीकरण के बाद मेहनताने के क़रीब दुगने हो जाने की ओर संकेत करते हैं।[22]

हम देख चुके हैं कि अराधकनगर व धनतला राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के क़रीब होने के साथ-साथ हरित क्रांति के केंद्र से भी जुड़ी बस्तियाँ है। इस परिप्रेक्ष्य में ग़रीबी के संबंध में किसी निर्णय पर पहुँचने से पहले देश के सबसे पिछड़े इलाक़ों से मिले आँकड़ों पर भी नज़र डालना उचित होगा। इसी उद्देश्य से हमने शोध के दौरान स्वयं देश के सबसे पिछड़े इलाक़ों का भ्रमण किया एवं अन्य विद्वानों द्वारा किये गये सर्वेक्षणों को भी समझने की कोशिश की।[23] इसी प्रयास में 1990 में जहानाबाद (बिहार), 2014 में झाड़ग्राम (पश्चिम बंगाल) तथा 2016 में बाँदा (दक्षिणी उत्तर-प्रदेश) के कई गाँवों में हमने आवासों तथा मज़दूरी की दरों इत्यादि की पड़ताल की और पाया कि चाहे ग़रीबी का स्तर इन ज़िलों में अध्ययन-क्षेत्र से कहीं अधिक था परंतु आवासों तथा उपभोग वस्तुओं का स्तर इनमें भी बेहतर होता दिख रहा था।

ग़रीबी घटने के कारण

अधिकाधिक अर्थशास्त्री अब यह मानने लगे हैं कि पूरे देश के स्तर पर भी पिछले 30 सालों में क़रीब बीस करोड़ लोग ग़रीबी रेखा के ऊपर आ चुके हैं।[24] कहा जा सकता है कि मात्रा तथा निरंतरता की दृष्टि से यह बेहतरी हमारे इतिहास में अप्रत्याशित है। इस परिणति के क्या कारण थे और इसमें उदारीकरण का स्वयं कितना योगदान रहा, यह फिर भी बहस का मुद्दा है। इस में कोई शक नहीं कि घटती निर्धनता तथा आर्थिक उदारीकरण का समसामयिक होना संयोग की बात नहीं है। इस बड़े नीतिगत बदलाव के कारण असल में देश के मध्यम वर्ग का अभूतपूर्व विकास हुआ और इस वर्ग की बढ़ती क्रयशक्ति ने आवास-निर्माण तथा अन्य सेवाओं की माँग में बड़ा उछाल पैदा किया। धनतला में भी इसका संकेत मिलता है। न केवल इस गाँव से पिछले तीन दशकों में क़रीब पचास परिवार शहरों की ओर कूच कर चुके हैं, बल्कि कमाई के लिए शहरों की ओर रोज़ाना आने-जाने वाले ग्रामवासियों की संख्या भी अब 120 से ऊपर है। इसके चलते गाँव में मज़दूरों की आपूर्ति और मुश्किल हो गयी है और मज़दूरी की दर ऊर्ध्वोमुख है।

परंतु ग़रीबी पर बढ़ते इस प्रहार का पूरा श्रेय आर्थिक उदारीकरण को ही देना उचित नहीं होगा। हाल के दशकों में ही कई और बड़े परिवर्तन हुए हैं जिनसे ग़रीबी कम करने में सहायता मिली है।

---

[22] राष्ट्रीय स्तर पर इसी निष्कर्ष के लिए देखें : अलख शर्मा (2014) : तालिका संख्या 6.2 व 6.3 : 233-235; तथा के. सुंदरम : (2008) 83-108. स्मरणीय है कि वामपंथी अर्थशास्त्रियों ने मज़दूरी वृद्धि को 1990 के दशक में अस्वीकार करके, नरेगा तथा खाद्यान्न अधिकार अधिनियम के फलस्वरूप 2004 के बाद ही होता क़बूल किया है. देखें, सी.पी. चंद्रशेखर व जयति घोष (2006). परंतु, हमारा शोध शर्मा एवं सुंदरम के निष्कर्षों के अधिक निकट है.

[23] बड़े सर्वेक्षणों में मिले इसी तरह के अनुमानों के लिए देखें, देवेश कपूर, चंद्रभान प्रसाद, लेंट प्रित्चेत तथा डी. श्याम बाबू (2010) एवं अमृता दत्ता, जेरी रोज़र्स, जनीन रोज़र्स एवं बी.के.एन सिंह (2012) : 23-25.

[24] देवेश कपूर, चंद्रभान प्रसाद इत्यादि 2010 : सुरेंद्र सिंह जोधका 2014 तथा अमृता दत्ता, जैरी रोज़र्स इत्यादि (2012).

कुटी मशीन में हाथ खोने के बाद

देश के प्रभावी विकासविद् जब प्रगति की चर्चा करते हैं तो उसमें सुरक्षा, सामाजिक सौहार्द तथा अहिंसा जैसे बुनियादी मुद्दों को शामिल करना भूल जाते हैं। जिस देश में इन्हीं आदर्शों को सर्वोपरि रख कर विकास की उत्तम संकल्पना गाँधी जैसे विचारक दे चुके हैं, उस देश के विमर्शों में यह उपेक्षा हैरान करने वाली है।

जैसे 1990 के बाद ही देश में जनसंख्या की वृद्धि-दर में अप्रत्याशित गिरावट आयी और आज यह 2.5% सालाना से घटकर 1.5% प्रतिवर्ष से नीचे आ चुकी है। जनसंख्या पर लगाम लगना भी मज़दूरी के बढ़ने में स्वभावत: सहायक है। एक अन्य प्रवृत्ति जिसने ग़रीबी घटाने में सहायता की, वह कमज़ोर तबक़ों के लिए नये कल्याण-कार्यक्रम तथा सस्ते राशन, रोज़गार की गारंटी, शिक्षा का अधिकार जैसे क़ानूनों का पारित होना है। अकेले भोजन के अधिकार के माध्यम से ही जनसंख्या के दो तिहाई हिस्से को अब एक रुपये किलो गेहूँ एवं तीन रुपये किलो चावल मुहैया हो रहा है जिसके कारण लाभान्वित परिवारों में खाद्यान्न पर क़रीब 1,000 रुपये प्रति माह की महत्त्वपूर्ण बचत हो जाती है। रोचक है कि इस सशक्तीकरण के कारण बहुत से सीमांत परिवारों की स्त्रियों ने अब कठोर खेत-मज़दूरी करना कम कर दिया है। इस प्रवृत्ति ने भी गाँव में मज़दूरी की दर को उठाने में योगदान दिया है।[25]

बेहतरी की सीमाएँ

ग़रीबी और भुखमरी में आयी उल्लिखित गिरावट का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि देश में या हमारे अध्ययन-क्षेत्र में अब हर तरफ़ ख़ुशहाली आ गयी है। असल में 1990 के बाद करोड़ों भारतीय परिवार विपन्नता से बाहर तो आये हैं। परंतु अब भी अधिकांश ऐसे हैं जो मात्र एक पारिवारिक विपदा या बीमारी की मार से वापस ग़रीबी में धसक सकते हैं।[26] इसके अतिरिक्त स्मरणीय है कि भारत जहाँ ग़रीबी के साये से आज भी पूरी तरह बाहर नहीं आ पाया है, ताइवान और दक्षिण-कोरिया जैसे एशियाई देश (1970 के बाद) तथा थाईलैण्ड, मलेशिया एवं श्रीलंका

---

[25] देखें : ज्याँ द्रेज़ व अमर्त्य सेन (2013) : 109-10.

[26] इंदिरा हिरवे (2014) : 67-71.

(1980 के बाद) भीषण ग़रीबी प्रायः समाप्त कर चुके थे। इस तरह एशियाई मापदण्डों पर भी ग़रीबी से भारत की जंग काफ़ी कमज़ोर रही है। देश में ही बिहार, झारखण्ड एवं पूर्वी और दक्षिणी उत्तर प्रदेश ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें विपन्नता अभी भी विकराल रूप धारण किये है, जबकि केरल, हिमाचल इत्यादि इस अभिशाप से मुक्ति की ओर अग्रसर हैं।[27]

इससे भी अधिक चिंता की बात यह है कि ग़रीबी के कुछ कम होने के बावजूद सामाजिक पीड़ाओं के कई और साये हैं जो छँटने की बजाय देश के कई हिस्सों में गहरा रहे हैं।

असुरक्षा और संशय के गहराते साये

रोटी के साथ भयमुक्त वातावरण हर इंसान की बुनियादी आवश्यकता है। दुर्भाग्य से हमारे अध्ययन-क्षेत्र एवं इसके पड़ोसी ज़िलों में नागरिकों की यह ज़रूरत भी बढ़ते सामाजिक तनाव व जघन्य अपराधों के माहौल में बुरी तरह उपेक्षित रही है। स्मरण योग्य है कि सुरक्षा का मुद्दा केवल जान-माल की हिफ़ाजत से जुड़ा नहीं है। सलामती का एहसास व्यक्ति को तभी मिलता है जब हिंसा से बचाव के साथ उसे विश्वसनीय नातों का वह ताना-बाना भी इर्द-गिर्द नज़र आये जिस पर वह ज़िंदगी के उतार-चढ़ाव में आश्रित रह सके। दुर्भाग्य से उत्तर-आधुनिकता ने जहाँ भूख और मुफ़लिसी को कम किया है तथा बेहतर शिक्षा एवं स्वास्थ्य सुविधाओं के मार्ग खोले हैं, वहीं अपराध, आतंकवाद, युद्ध तथा गृहयुद्ध एवं रोज़मर्रा के जीवन में बढ़ती गलाकाट-प्रतिस्पर्धा और अकेलेपन के एहसास को बढ़ाया है।[28] अविकसित देशों में तो असुरक्षा का दंश और भी कई कारणों से विकराल रूप धारण कर रहा है।[29]

हमारे अध्ययन-क्षेत्र के आसपास भी हाल के वर्षों में निर्भया कांड से लेकर बदायूँ के सामूहिक बलात्कारों तथा बुलंदशहर एवं जेवर के राजमार्गों पर हुई लूट व हत्या की घटनाओं ने पूरे देश को झकझोर दिया था। सरकारी आँकड़े फिर भी दावा करते रहे हैं कि हत्या, सामूहिक बलात्कार, अपहरण जैसी वारदातें दिल्ली तथा उत्तर प्रदेश में भी पहले से कम हुई हैं। निश्चय ही दलितों व दरिद्रों पर रोज़ाना के अत्याचार धनतला तथा अराधकनगर में पहले से कम हुए हैं। परंतु आज मीडिया में प्रकाशित हो रही जघन्य अपराधों तथा हिंसा की बढ़ती वारदातें एक अन्य गम्भीर प्रवृत्ति की ओर इशारा करती हैं। बढ़ते भय का यह माहौल अपराधों के बेहतर कवरेज का परिणाम है, या किशोरों द्वारा भी सामूहिक बलात्कारों की वीडिओ इंटरनेट पर बेचने की वारदातें बढ़ते वहशीपन के संकेत हैं— यह व्यवस्थित शोध का गम्भीर मुद्दा है।

स्पष्ट है कि समस्या की तह तक पहुँचने के लिए हमें अधिकारिक व सामुदायिक स्रोतों से पंजीकृत व अपंजीकृत सूचित व अघोषित तथा साधारण-जन एवं सफ़ेदपोशों के जघन्य अपराधों को समग्रता से समझना होगा। राष्ट्रीय स्तर पर यह जानकारी जुटा पाना अभी मुश्किल है, परंतु चुनिंदा क़स्बों व तहसीलों में ग्राम-प्रधानों स्वयंसेवी संस्थाओं सेवानिवृत्त पुलिस अधिकारियों तथा वक़ीलों इत्यादि से औपचारिक व अनौपचारिक सामूहिक व व्यक्तिगत वार्ताएँ करके स्थानीय अपराधों की व्यापक जानकारी ज़रूर हासिल की जा सकती है। इसके बाद इस जानकारी को अपराध के आधिकारिक आँकड़ों से तुलना करके छिपे पैटर्न भी सामने लाए जा सकते हैं।

ऐसा ही एक प्रयास अपने शोध-सहायकों के साथ मैंने 2014 में धनतला व अराधकनगर में किया। सामूहिक वार्ताओं पर आधारित इस उपक्रम में पता चला कि पिछले तीन दशकों में इन बस्तियों में 22 हत्याएँ हुईं जिनमें से पाँच की सूचना आम नहीं हो पायी। दो के बारे में तो शक है कि स्वजनों ने ही संदिग्ध हत्याओं को ख़ुदकुशी के रूप में पेश किया जो क़बूल भी किया गया। शेष 17 हत्याओं

---

[27] ज्याँ द्रेज़ और अमर्त्य सेन (वही).

[28] वही : 355.

[29] पूँजीवाद के विमुखी अनुभव और खोखलेपन के एहसासों पर देखें : हर्बर्ट मार्क्यूज़ (1964)।

2014 में अराधकनगर का एक दृश्य
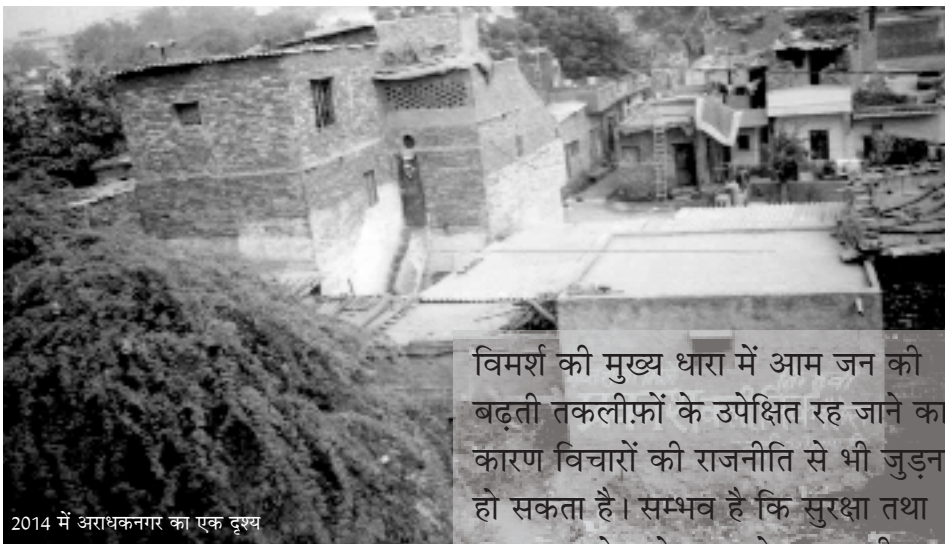
विमर्श की मुख्य धारा में आम जन की बढ़ती तकलीफ़ों के उपेक्षित रह जाने का कारण विचारों की राजनीति से भी जुड़ना हो सकता है। सम्भव है कि सुरक्षा तथा सुप्रशासन के मुद्दे बहुत से मध्यगामी तथा वामपंथी विचारकों द्वारा दक्षिणपंथ से जुड़े मान लिए जाने के कारण उस शिद्दत से नहीं उठाए गये जिस उत्साह से आर्थिक-समानता, सामाजिक-न्याय तथा पूर्ण-प्रजातंत्र के आदर्श उद्घोषित किये गये।

के मामलों में तीन को पुलिस ने पंजीकृत नहीं किया मुक़दमे के स्तर तक पहुँचने वाली 14 हत्याओं में केवल चार में सज़ा हुई (एक में गाँव-वालों का मानना है कि बेगुनाह को सज़ा हुई थी) और दो अदालतों में लम्बित है। बाक़ी की रिहाई हो चुकी है।

शोध-काल में धनतला में तीन सामूहिक बलात्कार या बड़े यौन-अपराध सामने आये जिनमें से दो में केस दर्ज हुए। राहजनी, छीना-झपटी, मारपीट और छेड़छाड़ की घटनाएँ भी हाल में मदिरा-सेवन के साथ काफ़ी बढ़ी हैं। अखिलेश सरकार के शासन-काल में तो धनतला को खरखौदा इंटर कॉलेज से जोड़ने वाली सड़क पर छेड़छाड़ की घटनाएँ इस क़दर बढ़ गयी थीं कि कई परिवारों ने पढ़ने वाली बच्चियों को इंटर कॉलेज से निकाल कर पत्राचार वाली वैकल्पिक व्यवस्था में डालना बेहतर समझा। दूसरी और तुलना के लिए जब मेरे शोध-सहायक 2015 में महाराष्ट्र के राले-गाँव गये तो वहाँ उन्होंने पाया कि एक वारदात को छोड़ कर उस इलाक़े में तीन दशकों में किसी को हत्या की कोई घटना स्मरण नहीं। स्वयं धनतला के भीतर संगठित अपराध खाद्यान्न में कुछ मिलावट एवं अवैध शराब की बिक्री के रूप में ही नज़र आता है। परंतु अराधकनगर एवं इसके आसपास न केवल यह बढ़ता दिख रहा है, बल्कि अधिक संगठित रूप भी ले रहा है। इस प्रकार के अपराधों में जेबतराशी, झपटमारी, वेश्यावृत्ति, नशीली वस्तुओं का सेवन इत्यादि प्रमुख हैं।

कुप्रशासन की मार

पश्चिमी उत्तर प्रदेश में असुरक्षा की विकराल समस्या केवल दर्ज एवं ग़ैर-दर्ज जघन्य अपराधों के बढ़ते ग्राफ़ से नहीं बल्कि प्रशासन के काफ़्काई स्वरूप और समाज के बिखरते ताने-बाने में भी देखी जा सकती है। प्रशासन जहाँ इस क्षेत्र में क़ानून व्यवस्था क़ायम रखने में उत्तरोत्तर अक्षम रहा है, वहीं आम नागरिकों के लिए डर और प्रताड़ना का स्रोत भी बन बैठा है। धनतला के बगल में ही 1987 में प्रांतीय हथियारबंद-पुलिस द्वारा की गयी मलियाना की हत्याएँ, दो अक्टूबर, 1994 को मुज़फ़्फ़रनगर

के राम–तिराहे पर उत्तरांचल की माँग कर रहे शांतिमय प्रदर्शनकारियों के बर्बर क़त्ल और बलात्कारों की हृदय–विदारक वारदात तथा 2016 में बदायूँ में पुलिस स्टेशन में ही सामूहिक बलात्कार की ख़बर सरकारी तंत्र में ही आज मौजूद राक्षसी प्रवृत्तियों की ओर इशारा करती हैं। इससे भी अधिक दुखद यह है कि इन कुकर्मों के लिए ज़िम्मेदार कई अधिकारी तो सज़ा पाने की बजाय कुछ सरकारों द्वारा पदोन्नत कर दिये गये। स्वयं धनतला भी वर्दीधारियों के ज़ुल्म से अछूता नहीं रहा है। पुलिसिया और अफ़सरी ज़्यादतियों के कई क़िस्से गाँव वालों को बख़ूबी याद हैं। स्थानाभाव के कारण केवल एक का ज़िक्र यहाँ सम्भव है।

26 अप्रैल, 2016 को धनतला के एक 40 वर्षीय युवक योगेंद्र उर्फ़ लीलू ने खेतों के बीच खड़े सेलफ़ोन–टॉवर से कूद कर जान दे दी थी। ओलावृष्टि में उसकी गेहूँ की आधी फ़सल तबाह हो गयी थी और अखिलेश सरकार ने घोषणाओं के बावजूद कोई मुआवज़ा धनतला के किसानों तक नहीं पहुँचाया था। यूँ तो आत्महत्याओं के पीछे कई वजहें अकसर इकट्ठे मौजूद रहती हैं, परंतु लीलू की ख़ुदकशी का प्रमुख कारण उसकी दुर्दशा थी जिससे सरकारी तंत्र की लापरवाही ही नहीं निर्ममता भी उजागर हुई। उस दिन लीलू सेलफ़ोन–टॉवर पर कई घंटे रहा और बिलखती माँ व परिवारवालों सहित सभी ग्रामवासियों के उतर आने के आग्रह को रो–रो कर ठुकराता रहा।

साक्षियों के अनुसार इस पूरे क्रम में स्थानीय पुलिस भी मौजूद थी। परंतु कार्यवाही करने की बजाय वह चारपाई पर बैठ कर लीलू का मज़ाक ही बना रही थी। कई घंटों की क़वायद के बाद भी जब गाँव वाले लीलू को उतर आने के लिए बहला नहीं पाए और शाम होते–होते उसने टॉवर से कूद कर जान दे दी तब कुछ गाँव वालों का गुस्सा स्वभावतः पुलिस पर भी बरपा। ऐसे में कुछ युवकों ने पुलिसकर्मियों के साथ धक्कामुक्की कर डाली जिस पर दर्जन–भर ग्रामवासियों को पुलिस ने दफ़ा 307 और 323 जैसे संगीन आरोपों में दर्ज कर लिया। ये मुक़दमे आज तक वापस नहीं लिए गये हैं और कई आरोपी इसी कारण अरसे तक गाँव वापस नहीं आ पाए।

यहाँ स्पष्ट करना ज़रूरी है कि अध्ययन–क्षेत्र में असुरक्षा का एकमात्र स्रोत सरकारी–तंत्र को मान लेना भी उचित न होगा। लोकतांत्रिक व्यवस्था में विरोधी दलों के साथ–साथ नागरिक संगठन भी तंत्र पर प्रभावी अंकुश लगाने की माँग तो कर ही सकते हैं। परंतु धनतला व अराधकनगर में यह प्रक्रिया भी कमज़ोर दिखती है। इसका एक उदाहरण इस बात में देखा जा सकता है कि हाल में जब उत्तर प्रदेश की योगी–सरकार ने पुलिस को बड़े अपराधियों को मुठभेड़ों में मार डालने तक की छूट दे दी, तो धनतला के ज़्यादातर पुरुषों व स्त्रियों ने दिसम्बर, 2017 में रिकॉर्ड की गयी एक सामूहिक वार्ता में न केवल इस कार्रवाई का समर्थन किया, बल्कि मेरठ तथा मुज़फ़्फ़रनगर के कई अपराधियों के पुलिस द्वारा मार दिये जाने पर ख़ुशी भी ज़ाहिर की। इस चिंताजनक रुख़ का एक कारण क्षेत्र में अखिलेश सरकार के काल में अपराधों के अप्रत्याशित रूप से बढ़ जाने का कथित अनुभव था; और दूसरा निचले न्यायालयों द्वारा शातिर–अपराधियों को भी आसानी से छोड़ देने की ख़बरों से बना अविश्वास।

जातिगत, साम्प्रदायिक व पारिवारिक हिंसा

सामाजिक विमुखता के उक्त उदाहरण अध्ययन–क्षेत्र में असुरक्षा के तीसरे बड़े स्रोत यानी सामुदायिक तनावों की ओर भी ध्यान आकृष्ट करते हैं। ये तनाव केवल धार्मिक समुदायों के बीच नहीं, बल्कि जातियों, वर्गों, राजनीतिक व ग़ैर–राजनीतिक दलों तथा संगठित गुटों/पार्टियों के बीच भी बढ़ते नज़र आते हैं। कमज़ोर पड़ते पड़ोस व पारिवारिक रिश्तों के बीच इस प्रकार की इकाइयाँ व्यक्ति को पहचान और कुछ सहारा देती हैं, परंतु दूसरी ओर आपसी टकरावों को भी बढ़ा सकती हैं।

बहुआयामी विविधताओं वाले हमारे समाज में जातिगत तथा उप–जातिगत इकाइयाँ आज भी विशिष्ट पहचान के रूप में मौजूद हैं। एक समय तो देश के अधिकतम क्षेत्रों में वर्ण, वर्ग और सत्ता के

वृत्त परस्परव्यापी भी थे।[30] सौभाग्य से आज़ाद हिंदुस्तान के संविधान एवं लोकतांत्रिक प्रक्रिया ने इस जकड़न को कम किया है एवं इसके सबसे विषाक्त पहलू, अस्पृश्यता एवं ऊँच–नीच को भी चुनौती दी है।[31] परंतु जातिगत तनाव तथा हिंसा आज तक समाप्त नहीं हुए हैं। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में दलितों में शिक्षा के प्रसार तथा बसपा एवं आम्बेडकरवादी संगठनों के उभरने के साथ ख़ास तौर पर अंतरजातीय विवाद बढ़ते नज़र आ रहे हैं।

हम देख चुके हैं कि धनतला में 1984 में मज़दूरों को भूमि–आवंटन का लाभ मिला था। आवंटित किये गये 110 खेतों में अधिकतर दलितों को ही प्राप्त हुए थे। परंतु कड़े संघर्ष के बाद हासिल हुई इन ज़मीनों पर हक़ प्राप्त करने में इन परिवारों को लम्बी अदालती लड़ाई का सामना 'फिर' भी करना पड़ा। आज ज़रूर यहाँ गौतम ऋषि (एडवोकेट) तथा चंद्रभान (प्रधान) जैसे दलित हैं जिन्हें गाँव में सम्मान हासिल है। इससे भी हर्षदायक बात यह है कि विद्यालयों, मंदिरों इत्यादि में अब आम दलित भी आसानी से जा पाते हैं तथा गाँव के समारोहों में सभी जातियों को आम तौर पर आमंत्रित किया जाता है और छुआछूत कम से कम बाह्य रूप से कम होती दिख रही है। इसी तरह आम्बेडकर जयंती जैसे पर्वों में सभी जातियाँ जोश से शिरकत करती हैं। रोचक है कि 2000 से 2014 के बीच कई चुनावों में गाँव की प्रबल गुर्जर–जाति दलितों की पक्षधर बसपा के साथ खड़ी दिखी। इस तरह चुनावी प्रक्रिया ने जहाँ जातिगत पहचानों को मज़बूत किया है, वहीं राजनीतिक समीकरणों की आवश्यकता ने दूरियों को कम भी किया है।

दूसरी ओर गाँव में हर जाति का श्मशान आज भी अलग है। जातियाँ ही नहीं उप–जातियों में भी वैवाहिक संबंध वर्जित हैं और बड़े तनाव या हिंसा तक का कारण बन जाते हैं। अराधकनगर में भी अंतरजातीय विवाह अधिकतम परिवारों को अस्वीकार्य है; हालाँकि शहर में होने का असर यह है कि ऐसे मामलों में हिंसात्मक प्रतिरोध कम देखने को मिलता है।

अंतरजातीय दुर्भावनाओं से भी अधिक धनतला और अराधकनगर के आसपास अंतर्धार्मिक तनाव एवं हिंसा असुरक्षा के बड़े स्रोत हैं। विशेषकर 1990 के बाद फैले राम–जन्मभूमि आंदोलन एवं स्टूडेंट्स इस्लामिक मूवमेंट ऑफ़ इण्डिया (सिमी) तथा बजरंग दल जैसे संगठनों द्वारा धार्मिक विद्वेष फैलाए जाने के कारण 1992, 1993, 2014 इत्यादि में अध्ययन–क्षेत्र के कई शहरों और देहात में बड़े साम्प्रदायिक दंगे हुए। हालाँकि स्वयं धनतला में कोई साम्प्रदायिक हिंसा अब तक नहीं हुई है परंतु यहाँ के कुछ निवासियों ने अन्य स्थानों पर दूसरे सम्प्रदायों पर हमलों में शामिल होने की बात क़बूली है।

अराधकनगर के कुछ निवासी भी 1984 के सिख–विरोधी दंगों के साक्षी थे। हाल के वर्षों में चिंताजनक बात यह रही है कि साम्प्रदायिक विद्वेष ने गाँवों तक में विस्फोटक रूप धारण कर लिया है तथा अंतरधार्मिक विवाह ज़मीन के विवाद और संगीत कार्यक्रमों एवं बच्चों के झगड़ों इत्यादि पर भी बड़ी आगजनी और हिंसा की वारदातें गाँवों से भी सुनने को मिल रही हैं। यहाँ तक कि धनतला तथा अराधकनगर के आसपास के कुछ गाँव क़स्बों में तो धार्मिक तनावों के कारण अल्पसंख्यक समुदायों (हिंदू एवं मुस्लिम दोनों) को कुछ जगहों से पलायन तक करना पड़ा जिससे समाज का ताना–बाना इस क्षेत्र में और तार–तार हुआ।[32] दूसरी ओर अराधकनगर के क़रीब नंद नगरी एवं सुंदर नगरी जैसी पुनर्वास बस्तियों के कई खण्ड हिंदू और मुस्लिम इलाक़ों में बँट चुके हैं और इनके बीच भी साम्प्रदायिक तनाव हाल के वर्षों में कई बार पनपा है।

---

[30] ऐसे ही एक निर्णय में रामपुर तिराहे के गुनहगार पुलिस निरीक्षक बुआ सिंह को उत्तर प्रदेश की तत्कालीन मुलायम सरकार ने बहुत जल्द ही प्रांत की पुलिस का मुख्य निदेशक तक बना डाला था.

[31] परम्परागत वर्ग व वर्ण व्यवस्थाओं के परस्परव्यापन पर देखें : आंद्रे बेते (1965).

[32] देवेश विजय (2016क) : 56–58.

स्त्रियों के साथ जो परोक्ष व अपरोक्ष अन्याय भारतीय समाज में क़ायम है उस पर विस्तृत टिप्पणी यहाँ आवश्यक न होगी। परंतु असुरक्षा के संदर्भ में इतना जोड़ा जा सकता है कि अध्ययन-क्षेत्र में भ्रूण-हत्या से लेकर तलाक़-ए-इद्दत तथा घरेलू हिंसा एवं विपन्न बुजुर्ग महिलाओं को परिवारों द्वारा बेसहारा छोड़ देने के कई उदाहरण सामने आये हैं। इसमें शक नहीं कि भारतीय परिवार आज भी समाज को बिख़राव से बचाने वाला सबसे मज़बूत स्तम्भ है, परंतु ये प्रवृत्तियाँ छोटे प्रतिशत में ही सही पर उस स्याह पहलू को उजागर करती हैं जो परिवार के पर्दे में इंसानियत को पोसने वाले आँचल को ही तार-तार कर जाता है। एक अन्य चिंता जो हाल में राष्ट्रीय स्तर पर उभरी वह परिवारों द्वारा भ्रष्टाचार से भरे डेरा सच्चा सौदा तथा आसाराम इत्यादि के आश्रमों में जाने-अनजाने कन्याओं को छद्म साधुओं के सुपुर्द करने की थी। इन युवतियों के साथ हुए शोषण के गवाह हमें धनतला और अराधकनगर में भी मिले। ये घटनाएँ समाज में फैले धार्मिक अंधविश्वास के साथ परिवार में स्त्रियों की बेहद कमज़ोर स्थिति को उजागर करती हैं।

इन तनावों के बीच यह किसी विडम्बना से कम नहीं कि देश के प्रभावी विकासविद् जब प्रगति की चर्चा करते हैं तो उसमें सुरक्षा, सामाजिक सौहार्द तथा अहिंसा जैसे बुनियादी मुद्दों को शामिल करना भूल जाते हैं। जिस देश में इन्हीं आदर्शों को सर्वोपरि रख कर विकास की उत्तम संकल्पना गाँधी जैसे विचारक दे चुके हैं, उस देश के विमर्शों में यह उपेक्षा हैरान करने वाली है।[33]

भ्रष्ट पूँजीवाद

धार्मिक, जातिगत एवं भाषाई विभाजन कितने ही संगठित और आक्रामक क्यों न हो जाएँ, एक मायने में काल्पनिक और कृत्रिम ही रहते हैं। इन से हट कर वर्ग-विभाजन, पुरुष-प्रधानता और आर्थिक-अंतर्विरोध समाज के उन टकरावों में हैं जो जनमानस की चेतना में पूर्ण अभिव्यक्ति न पा कर भी समाज की दिशा तथा दशा को गहराई से प्रभावित करते हैं। आज पूँजीवाद पूरे विश्व में अपनाया जा रहा है। यह भी मान्य है कि अन्य वर्ग-संरचनाओं की तुलना में परवर्ती-पूँजीवाद ने उत्पादकता को सर्वाधिक बढ़ाया है और ग़रीबी भी दुनिया के बड़े हिस्से में कम की है। परंतु बढ़ता उपभोग तथा गलाकाटू प्रतिस्पर्धा एवं कृत्रिम जीवन शैली इस व्यवस्था की बड़ी समस्याएँ हैं जो विकसित राष्ट्रों में भी चिंता का विषय बनी हुई हैं।[34] दु:ख की बात यह है कि भूमण्डलीकरण के प्रभाव में पश्चिमी नियम-पालन या व्यावसायिक मूल्यों के प्रसार की बजाय पूँजी का बेहद भ्रष्ट रूप भारत जैसे देशों पर हावी हो रहा है।[35]

हमारे अध्ययन-क्षेत्र में भी मेहनतकशों पर ज़मींदारों तथा पूँजीपतियों द्वारा किये गये अत्याचारों के कई क़िस्से सुनने को मिले। समय पर या पूरा मेहनताना न मिलने पर मज़दूरों को बग़ैर मुआवज़े के बेदख़ल करने एवं विरोध किये जाने पर पुलिस व सरकारी तंत्र का चाबुक उन पर चलवाने के अनेक उदाहरण धनतला व अराधकनगर में लोगों की ज़ुबान पर है। इनकी विस्तृत चर्चा हम अन्यत्र कर चुके हैं।[36] उदारीकरण के दौर में एक और ज़ुल्म जो स्थानीय मज़दूरों को झेलना पड़ा वह मोदीनगर तथा साहिबाबाद जैसे पुराने औद्योगिक केंद्रों में बड़ी-बड़ी फ़ैक्ट्रियों के बंद होने और बर्ख़ास्तगी का था। दूसरी ओर इसी दौर में ग़रीब युवाओं की संख्या, शिक्षा तथा अपेक्षाएँ तेज़ी से बढ़ी हैं। इस दोहरी मार के चलते दोनों ही बस्तियों में अल्प-बेरोज़गारी, नशा, अपराध तथा मानसिक तनाव की समस्याएँ विकराल रूप धारण कर रही हैं।

---

[33] 2014 में मुज़फ़्फ़रनगर के दंगे 2016 में कैराना से पलायन की अफ़वाहें इस चिंताजनक प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करती हैं.

[34] इस संदर्भ में प्रोफ़ेसर अमर्त्य सेन की प्रभावी पुस्तक *डिवेलपमेंट एज़ फ्रीडम* तक में महात्मा गाँधी का ज़िक्र एक वाक्य में आता है, परंतु सौहार्द तथा सादगी जैसे आदर्शों पर वहाँ भी चुप्पी रह जाती है. देखें. वही : 292.

[35] ज़िग्मौंत बाउमॅन (2003) : 22-4; तथा आदित्य निगम (2011).

[36] विस्तृत टिप्पणी व उदाहरणों के लिए देखें : अभय कुमार दुबे (2017) : 22-23.
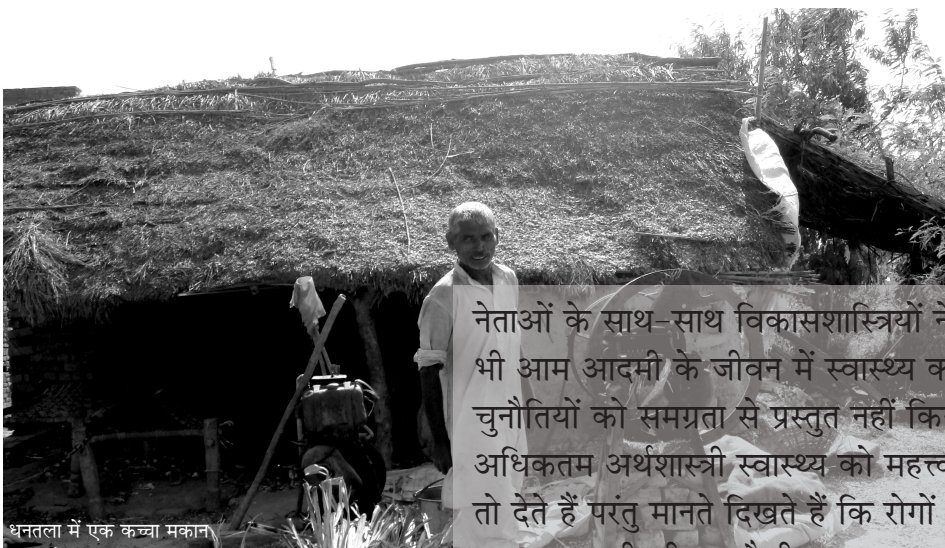
धनतला में एक कच्चा मकान

नेताओं के साथ-साथ विकासशास्त्रियों ने भी आम आदमी के जीवन में स्वास्थ्य की चुनौतियों को समग्रता से प्रस्तुत नहीं किया। अधिकतम अर्थशास्त्री स्वास्थ्य को महत्त्व तो देते हैं परंतु मानते दिखते हैं कि रोगों का बढ़ना बदलती जीवन-शैली तथा प्रदूषण के कारण उपजी समस्याएँ हैं जिन्हें मुख्यत: स्वास्थ्य सेवाओं पर सरकारी ख़र्च बढ़ा कर हल किया जा सकता है। यह अवधारणा देश के विकृत-विकास के एक कड़वे सच से हमें अनभिज्ञ रखती है।

सफ़ेदपोश अपराधी हर समाज में मिल जाते हैं, परंतु हाल के वर्षों में जिस रूप से राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र से डॉक्टरों द्वारा मरीज़ों के गुर्दे चुराने, व्यापारियों द्वारा खाद्य सामग्री में विषाक्त रंग मिलाने एवं राहगीरों द्वारा सड़क पर घायल बिलखते शख़्स की सहायता करने की बजाय उनका सामान लूटने इत्यादि घटनाएँ सुनने में आ रही हैं— वे पूँजीवादी समाज की साधारण विमुखता का ही नहीं, बल्कि भारत जैसे देशों में उसमें पल रही क्रूरता एवं अमानवीकरण की निशानियाँ भी हैं।[37]

बढ़ती उम्र, फैलते रोग

विकृत विकास के सबसे तकलीफ़देह पहलुओं में बढ़ती समृद्धि के बीच नागरिकों के गिरते स्वास्थ्य की समस्या है। जहाँ एक ओर अर्ध-विकसित देशों में भी नागरिकों की औसत उम्र बीते सौ सालों में क़रीब तीन गुना बढ़ी है और अब सत्तर वर्ष के औसत को छू रही है वहीं तंदुरुस्ती का स्तर अधिकतर समूहों में बदतर होता नज़र आता है। चिंता का विषय यह भी है कि यह समस्या मात्र बुज़ुर्गों में नहीं बल्कि युवाओं को भी अनेक अघातक-बीमारियों के रूप में सता रही है। भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद का हाल का सर्वेक्षण बताता है कि 2015 में द्वितीय स्तर के मधुमेह से ही देश के क़रीब 20% वयस्क आज त्रस्त हैं। इसी तरह मृत्यु-दर के घटने के बावजूद जीवन का स्तर गिराने वाली कई बीमारियाँ जैसे पीलिया, दमा और रक्तचाप लगातार भारत में बढ़ रहे हैं।[38]

रोग और अ-स्वास्थ्य की समस्याओं को समझने के लिए सरकारी आँकड़ों के साथ सूक्ष्म स्थानीय अध्ययन की भी आवश्यकता है। धनतला एवं अराधकनगर में स्वास्थ्य में आये बदलाव का

---

[37] देवेश विजय, वही : 81–85.

[38] दिल्ली तथा आसपास के ज़िलों में महिलाओं पर तेज़ाब फेंकने वाली घटनाओं के बढ़ते हादसों पर *इंडस इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ साउथ एशिया* की रिपोर्ट जो http://indpaedia.com/ind/index.php/Acidattacks पर 22 जनवरी, 2018 को देखी गयी.

अनुरेखन कर पाना कठिन था, क्योंकि अपने पहले सर्वेक्षण में मैंने रोगों पर आँकड़े नहीं जुटाए थे। परंतु मुद्दे की गम्भीरता को देखते हुए स्वास्थ्य में यहाँ आ रही तब्दीली को प्रयोगात्मक रूप से समझने के लिए मैंने दो शोध-सहायकों के साथ पुनरावेक्षी प्रयास किया और 2016 में धनतला के पचास बड़े संयुक्त परिवारों में मौजूद तीन पीढ़ियों से उनकी स्मृति में उन्हीं परिवारों में तीस से पचास वर्ष की आयु वाले लोगों में होने वाले हृदयाघात, पक्षाघात तथा कैंसर जैसी बढ़ी बीमारियों के आँकड़े जुटाए। इस सर्वेक्षण में हमने पाया कि ऐसे गम्भीर स्वास्थ्य-प्रकरण दादाओं की पीढ़ी में धनतला में न के बराबर थे, जबकि वर्तमान युवा पीढ़ी में मध्य पीढ़ी के मुक़ाबले दुगुने या तिगुने हो चुके थे।[39]

हाल में केंद्र तथा कई प्रांतीय सरकारों ने नागरिकों के स्वास्थ्य के प्रति अधिक ज़िम्मेदारी दिखाई है तथा मोहल्ला क्लीनिक एवं मुफ़्त दवा व सर्जरी इत्यादि की सुविधाएँ बढ़ाई हैं। परंतु स्मरणीय है कि नेहरू युग से ही उच्च-शिक्षा तथा विज्ञान इत्यादि पर जितना ध्यान भारतीय राजनेताओं ने दिया उतना ग़रीब को सबसे ज़्यादा तोड़ने वाली स्वास्थ्य की समस्याओं पर नहीं दिया। इससे भी बड़ी विडम्बना यह है कि राजनेताओं के साथ-साथ विकासशास्त्रियों ने भी आम आदमी के जीवन में स्वास्थ्य की चुनौतियों को समग्रता से प्रस्तुत नहीं किया। अधिकतम अर्थशास्त्री स्वास्थ्य को महत्त्व तो देते हैं परंतु मानते दिखते हैं कि रोगों का बढ़ना बदलती जीवन-शैली तथा प्रदूषण के कारण उपजी समस्याएँ हैं जिन्हें मुख्यत: स्वास्थ्य सेवाओं पर सरकारी ख़र्च बढ़ा कर हल किया जा सकता है।[40] यह अवधारणा देश के विकृत-विकास के एक कड़वे सच से हमें अनभिज्ञ रखती है।

इसी सच्चाई का सामना हमने सर्वेक्षण में तब किया जब देखा कि धनतला, जहाँ सरकार आज तक डिस्पेंसरी भी चालू नहीं कर पाई है, स्वास्थ्य की दृष्टि से अराधकनगर से बेहतर है। दोनों बस्तियों में किये गये 2016 के सर्वेक्षण में हमें देखने को मिला कि जहाँ पूर्वोक्त में नब्बे वर्ष से अधिक आयु के चार तथा अस्सी एवं नब्बे वर्ष के बीच के बारह बुज़ुर्ग गाँव में मौजूद थे, वहीं अराधकनगर में केवल एक बुज़ुर्ग अस्सी की आयु पार कर पाए थे। द्रष्टव्य है कि अराधकनगर के चारों ओर कई सरकारी व ग़ैर-सरकारी अस्पताल एवं प्राथमिक चिकित्सालय समय से मौजूद हैं। दोनों बस्तियों में मौजूदा घातक रोगों व उपचार सुविधाओं की विरोधी प्रवृत्तियाँ प्रश्न उठाती हैं कि क्या हमारा उपचार-तंत्र ही स्वयं रोगों का स्रोत बन गया है? समय के साथ क्या इसमें भ्रष्टाचार इस क़दर बढ़ा है कि नागरिकों की जीवन-प्रत्याशा बढ़ने के साथ रोगों का भी प्रसार हो रहा है? यह कहा जा सकता है कि यह बढ़ती औसत उम्र का भी परिणाम है एवं विश्वव्यापी है। परंतु पूरे राष्ट्र को झकझोरने वाली चिकित्सा जगत से आने वाली हाल की कई घटनाएँ— जैसे व्यापम-काण्ड तथा दिल्ली के आसपास मैक्स, मेदांता एवं फ़ोर्टिस जैसे बड़े अस्पतालों तथा सफ़दरजंग एवं गोरखपुर इत्यादि के सरकारी चिकित्सालयों में बड़े पैमाने पर हुईं रोगियों की अकारण मृत्यु दर्शाती है कि लापरवाह इलाज ही नहीं बल्कि कुछ स्थानों पर तो नक़ली डॉक्टर, नक़ली दवाइयाँ तथा अनावश्यक निदान और सर्जरी की समस्याएँ भी इस विषाक्त तंत्र का हिस्सा बनते जा रहे हैं। इसके अलावा सर्वविदित है कि हमारा देश आज प्रतिजीवी-दवाओं के प्रति बढ़ते प्रतिरोध का दुनिया का सबसे बड़ा केंद्र बन चुका है। हालाँकि उपचार के माध्यम से ही बढ़ते रोगों की यह समस्या किस हद तक नयी है या पहले भी परोक्ष रूप से चल रही थी— इस पर और शोध की आवश्यकता है। परंतु अध्ययन-क्षेत्र में अनेक साक्षात्कारों तथा वार्ताओं में यही बात बार-बार उभर कर आयी कि लोग अब पहले की तरह तंत्र द्वारा प्रामाणिक डॉक्टरों तथा अस्पतालों पर भी भरोसा नहीं कर पा रहे हैं।

---

[39] राकेश मलिक (2016) तथा परिवार एवं स्वास्थ्य कल्याण मंत्रालय (2016) : 4; http://rchiips.org/NFHS/pdf/NFHS4/India.pdf पर 20 जनवरी 2018 को देखा गया.

[40] देखें देवेश विजय (2017) : 595-612, 610-11.

आर्थिक तंगी और विपत्तियाँ

असुरक्षा और बीमारी के बाद जो पीड़ा व्यक्ति को सर्वाधिक तोड़ती है वह कंगाली और आर्थिक आघातों से जुड़ी है। जहाँ ग़रीबी एक दीर्घकालिक समस्या है और बहुस्तरीय समाधान माँगती है वहीं आर्थिक विपत्तियाँ (जैसे चढ़ती महँगाई, बेरोज़गारी तथा बाज़ारों के उतार-चढ़ाव) लघुकालिक हो सकती हैं और फ़ौरी राहत की अपेक्षा रखती हैं। बरक़रार ग़रीबी का भी सबसे मारक पहलू भुखमरी है जिसके भी देश में दो रूप, देखे जा सकते हैं। एक ओर हरित क्रांति तथा राशन प्रणाली के विस्तार के बाद रोटी को भी मोहताज परिवार देश में कम हो गये हैं तो दूसरी तरफ़ पौष्टिक और संतुलित भोजन आज भी मेहनतकशों के बड़े तबक़े को मुहैया नहीं है।

हमारे अध्ययन-क्षेत्र में भुखमरी के कम होने का संकेत इस बात में देखा जा सकता है कि जहाँ 1989 में हमें धनतला और अराधकनगर में ऐसे कई परिवार दिखे थे जो केवल प्याज या चटनी के साथ रोटी खाकर भूख मिटा लिया करते थे, वहीं आज इनमें से अधिकतम दाल और सब्जी का सेवन कर पा रहे हैं। 2013 में दोनों बस्तियों के दलित परिवारों के सर्वेक्षण में हमने यह भी पाया कि पिछले एक साल में दो दिन से ज़्यादा भूखे रहे परिवारों की संख्या यहाँ न के बराबर थी, जबकि हफ़्ते में कम से कम एक बार फल अथवा मांस का सेवन कर पाने वाले परिवार क्रमश: 50% व 33% हो गये थे। इसी तरह पिछले दो दशकों में धनतला में जहाँ दो हलवाई और चार शीतल पेय इत्यादि की दुकानें और खुल गयी हैं, वहीं अराधकनगर में चाट, मिठाई और जूस इत्यादि बेचने वालों के ठीये भी बड़े स्तर पर बढ़ गये हैं।

भूख से पीड़ित परिवारों को सर्वेक्षण में दर्ज न पाकर हमने 2014 में दोनों बस्तियों के सबसे ग़रीब परिवारों की मासिक उपभोग की तालिका बनाई। इसमें पाया कि ग़रीबी रेखा से नीचे होने के बावजूद इन परिवारों में भी हर सदस्य के लिए न्यूनतम दस किलो अनाज प्रति महीने उपलब्ध था। हालाँकि ऐसे कई परिवारों के लिए सरकारी राशन संजीवनी से कम नहीं है।

क्योंकि यह ब्योरा हरित क्रांति के गढ़ से लिया गया है इसलिए आवश्यक था कि ग़रीबी और भुखमरी की वास्तविकता समझने के लिए देश के सबसे पिछड़े ज़िलों से भी संबंधित तथ्यों को हासिल किया जाता है। इसी उद्देश्य से 2012 से 2015 के बीच मैंने अपने शोध-सहायकों (मनोज कुमार, सत्य प्रकाश गौतम तथा देवराज सिंह) की मदद से भुखमरी पर और सर्वेक्षण किये। सबसे पहले हमने धनतला तथा अराधकनगर के बाहर ही फ़ुटपाथों पर ज़िंदगी बिताते बदहाल व्यक्तियों से बात की जो बेरोज़गारी के साथ-साथ बीमारी और बेसहारगी की मार भी झेल रहे थे। परंतु ऐसे बेसहारा व्यक्तियों के अलावा भूख से पीड़ित परिवार हमें पिछड़े ज़िलों में भी कम ही नज़र आये। 2012 में जगदलपुर तथा 2015 में बांदा ज़िले के चार-चार गाँव के सर्वेक्षण में हमने पाया कि यहाँ के सबसे ग़रीब परिवारों में प्याज और चटनी से रोटी खाने वाले अभी भी मौजूद हैं परंतु सस्ते राशन की उपलब्धता के कारण अब आवश्यक कैलॅरी न हासिल कर पाने वाले बेहद कम रह गये हैं।

इस लघु परंतु विविध शोध के प्रकाश में उत्सा पटनायक तथा अमित भादुड़ी जैसे अर्थशास्त्रियों का यह दावा संदेहास्पद लगता है कि देश में व्याप्त कुपोषण मुख्यत: कैलॅरी या अनाज़ के अभाव के कारण है।[41] इसमें शक नहीं कि देश के अधिकांश नागरिक आज भी कुपोषण तथा अल्प-पोषण के शिकार हैं; जिसका स्पष्ट प्रमाण भारतीय बच्चों में व्याप्त शारीरिक रुद्ध-विकास तथा देश की आधी से अधिक स्त्रियों में मौजूद रक्तक्षीणता के आँकड़ों में मिलता है।[42] परंतु कुपोषण असल में भारत के मध्य एवं उच्चवर्गीय परिवारों में भी नज़र आता है।[43] और यह दिखाता है कि कुपोषण की समस्या

---

[41] अमर्त्य सेन (2000) : 44.

[42] उत्सा पटनायक (2007) : 8-10.

[43] देखें, नैशनल फैमिली हेल्थ सर्वे-IV, इण्डिया फ़ैक्ट शीट (2015-16) : 5। 31 जनवरी 2018 को http://rchiips.org/NFHS/pdf /NFHS4/ India.pdf पर देखा गया.

खाद्यान्न या कैलॅरी की अनुपलब्धता के कारण कम और पोषण के स्वास्थ्य में परिणत न हो पाने के कारण अधिक है; और गंदगी, दूषित जल तथा आबो-हवा एवं खाद्य पदार्थों में बढ़ती मिलावट इत्यादि से भी जुड़ी है।

देश में कुपोषण के विषय में हाल में एक और दावा यह किया गया कि उदारीकरण के बाद भारत में प्रति व्यक्ति कैलॅरी अंतर्ग्रहण में कमी आयी है।[44] स्मरणीय है कि निम्न वर्गों में हालाँकि औसत कैलॅरी-अंतर्ग्रहण कम हुआ है परंतु चर्बी तथा अन्य पोषक तत्वों का सेवन असल में बढ़ा है।[45] आम आदमी के भोजन में आने वाली यह तब्दीली असल में बेहतरी की ओर इशारा करती है, क्योंकि रोटी के साथ अब सब्ज़ी और दाल इत्यादि का उपभोग निम्न वर्गों में भी बढ़ गया है। इस बदलाव से उपभोक्ताओं में अनाज का सेवन स्वाभाविक रूप से कुछ कम करेगा। इसी प्रवृत्ति का एक और कारण खेतों, उद्योगों तथा यातायात में बढ़ते मशीनों के उपयोग से आवश्यक श्रम की मात्रा का कम होना भी है।[46]

इसका अर्थ यह नहीं कि अराधकनगर तथा धनतला जैसी बस्तियों में अब ज़्यादातर परिवार संतुलित और पौष्टिक भोजन ले पा रहे हैं। ज़ाहिर है कि सूखी रोटी से भूख शांत कर लेना और संतुलित तथा ग्राह्य आहार तीन वक़्त ले पाने के बीच बड़ा फ़ासला है। ग़रीबी का वह चित्र जिसमें दुर्भिक्षों से पीड़ित हड्डियों के ढाँचे देश में हर तरफ़ मिल जाते थे अब अपवादस्वरूप ही रह गया है। पर इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि ज़रा से पक्के खाने की ललक में मंदिरों और श्मशानों के आगे सैकड़ों ग़रीब अभी भी क़तारों में नज़र आ जाते हैं।

ख़स्ता-हाल अधिरचना की पीड़ाएँ

सड़क, बिजली, सुगम यातायात तथा संचार सेवाओं का बुनियादी ढाँचा एवं पर्यावरण संरक्षण के साथ राष्ट्रीय संसाधनों का संतुलित उपयोग विकास के प्रमुख लक्ष्यों में गिना जाता है। इस ढाँचे को तीव्रता से खड़ा करने में राज्य की भूमिका भी सर्वमान्य रही है। जापान जैसे ग़ैर-पश्चिमी मुल्क ने भी इन्हें उन्नीसवीं शताब्दी के मात्र तीन दशकों में गाँव-गाँव तक पहुँचा दिया था। इसी तरह पूर्वी एशिया के कई देशों ने बीसवीं शताब्दी में यही कामयाबी हासिल कर दिखायी। इस पृष्ठभूमि में अत्यंत शोचनीय है कि भारत में आज़ादी के दशकों बाद भी पक्की सड़कें, बिजली और सुचारु रेल सेवाएँ देश के कई इलाक़ों तक आज भी नहीं पहुँच पाए हैं। जहाँ बिजली पहुँची भी है वहाँ कम वोल्टेज़ के कारण ट्यूबवेल इत्यादि संसाधनों को सुचारु रूप से चला नहीं पाती। इसी तरह जलमार्गों का विकास एवं समुद्र में बह जाने वाले जल को खेती के लिए इस्तेमाल में भी हमारे तंत्र को ख़ास सफलता नहीं मिल पाई है।

धनतला गाँव भी इस कुप्रबंधन का ज्वलंत उदाहरण है। पिछले साल तक यहाँ बिजली पूरे दिन में अमूमन दस से बारह घंटे तक आती थी। गाँव की बाहरी सड़क भी ख़स्ता हाल थी। इन बुनियादी सुविधाओं के अभाव में न तो बच्चे ठीक से पढ़ाई कर पाते थे, न ही चिकित्सा केंद्रों में इलाज सुचारु रूप से चल पाता था और न ही गाँव में उद्योग-धंधे बन पाए। कृषि उत्पादों के सुरक्षित भण्डारण तथा शीतगृहों के निर्माण से यहाँ किसानों की आमदनी आसानी से दुगनी की जा सकती थी। परंतु न तो पिछली सरकारों ने स्वयं यह ढाँचा तैयार किया और न ही निजी पूँजी को इसमें योगदान देने की छूट दी, हालाँकि वर्तमान केंद्रीय सरकार इस दिशा में कुछ क़दम अब उठाती प्रतीत होती है। पर अध्ययन-क्षेत्र में बुनियादी ढाँचे की ख़स्ता हालत इस बात से भी स्पष्ट होती है कि इस क्षेत्र को राजधानी से जोड़ने वाले राजमार्ग कई जगह गाड़ियों के जाम से आज भी जूझ रहे हैं; कहीं फ़्लाईओवर दशकों से

---

[44] यर्लिनी बालाराजन व एस.वी.सुब्रह्मण्यम (2013) : 5.
[45] उत्सा पटनायक (2015) : 8-9.
[46] देखें, रमेश चाँद (2014) : तालिका संख्या 7; एवं एंगस देतों तथा ज्याँ द्रेज़ (2009) : 42-64, 44.

अधूरे पड़े हैं तो कहीं सड़कों को (एकतरफ़ा भूमि व वन-संरक्षण क़ानूनों के चलते) चौड़ा नहीं किया जा सका है। बुनियादी सुविधाओं का यह हाल दर्शाता है कि यह समस्या संसाधनों के अभाव के साथ-साथ योजनाओं के समयबद्ध क्रियान्वयन के अभाव की भी है।

प्रशासनिक सेवाओं का गिरता स्तर

शासन की लचरता भी आम आदमी के जीवन में बढ़ती तकलीफ़ों का सबब बन सकती है। ये तकलीफ़ें प्रशासन के मूल विभागों जैसे पुलिस न्याय-व्यवस्था एवं कर-प्रणाली से लेकर लोक-कल्याण कार्यक्रमों और स्थानीय सेवाओं जैसे सफ़ाई जल-आपूर्ति एवं आपदा-प्रबंधन इत्यादि में व्याप्त भ्रष्टाचार से संबंधित हो सकती हैं।[47] आज भारत के उच्च न्यायालयों में ही लाखों मुक़दमें दशकों से लम्बित हैं और निचली अदालत से तो बरी होकर दबंग मुजरिम सरेआम क़त्ल और बलात्कार जैसी वारदातों को फिर अंजाम देने की हिम्मत रखते हैं। साथ ही जेलों तक में फ़िरौती और रंगदारी के अड्डे बनने की ख़बरें अब आम हो रही हैं। सिक्के के दूसरी तरफ़ मामूली दफ़ाओं में गिरफ़्तार आरोपी भी ताउम्र सलाख़ों के पीछे डाले जा सकते हैं। इन हालात में आम नागरिकों पर सरकारी तंत्र में अविश्वास की कल्पना करना मुश्किल नहीं है। हालाँकि प्रशासनिक ढाँचे की ये नाकामियाँ देश भर में देखी जा सकती है, परंतु पश्चिमी उत्तर प्रदेश में ये विकृतियाँ गम्भीर रूप धारण करती प्रतीत होती हैं। ऐसे प्रशासनिक भ्रष्टाचार का जुड़ाव किस हद तक अस्मिता की राजनीति तथा सामाजिक न्याय के नाम पर भ्रष्टतम नेताओं के चुन लिए जाने से है— यह एक विचारणीय मुद्दा है। परंतु इसमें शक नहीं कि धनतला और अराधकनगर जैसी बस्तियों के अपने विमर्शों में यह दावा बार-बार उभर कर आता है कि स्थानीय तंत्र में आज भ्रष्टाचार इस क़दर बढ़ गया है और समाजवादी पार्टी जैसे दलों के शासनकाल में, विशेषकर पुलिस शिक्षा तथा स्वास्थ्य इत्यादि, विभागों की नियुक्तियाँ इतनी खुली गड़बड़ियों के साथ हुईं कि सरकारी विद्यालय, अस्पताल तथा थाने जनसेवा से ज़्यादा शोषण के केंद्रों के रूप में देखे जाने लगे।

प्रशासनिक तंत्र की तरह कल्याण-कार्यक्रमों और नागरिक सेवाओं का भी धनतला तथा अराधकनगर में कमोबेश बुरा हाल है। दिल्ली शहर में कांग्रेस सरकार की तुलना में आम आदमी पार्टी ने शिक्षा, स्वास्थ्य तथा बिजली आपूर्ति में कई सुधार किये हैं। राशन कार्ड भी लगभग सभी झुग्गीवासियों को पिछले दशक में मिल गये हैं और वृद्धों इत्यादि की पेंशन न केवल 1500 रुपये प्रति माह हो गयी है बल्कि इनकी संख्या में भी इज़ाफ़ा हुआ है। इससे पहले धनतला में कार्डधारकों की सूची में संशोधन न होने के कारण भाग्यशाली कार्डधारी असल में निर्धनों के बेहतर वर्ग में पहुँच गये थे जबकि ग़रीब के रूप में न पहचाने गये परिवार ही सबसे निर्धन और लाचार थे।

दूसरी और अराधक नगर में सस्ते राशन, बिजली, शिक्षा इत्यादि की बेहतर सुविधाओं के आ जाने के बाद भी कई अन्य समस्याएँ बरक़रार हैं। इनमें सबसे बढ़ी परेशानी पेय जल की है। नगर निगम के पाइपों से वितरित जल झुग्गी-बस्ती की मुख्य गली के चंद नलों में ही आता है। ऐसे में कुछ समय के लिए पानी के आने पर निवासियों के बीच आपाधापी और लड़ाई-झगड़े की नौबत अकसर आ जाती है। हाल में अराधकनगर के दोनों छोरों पर सामुदायिक शौचालय बन गये हैं। परंतु कूड़े के ढेर खुली नालियाँ और हवा तथा रौशनी की कमी से स्लमवासियों के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ रहा है। इसी तरह धनतला में शौचालयों का निर्माण हाल में तेज़ी से हुआ है परंतु परम्परागत पशुपालन के कारण गोबर व गंदगी हर तरफ़ नज़र आते हैं तथा मक्खियों व मच्छरों की समस्या का निदान प्रशासनिक और स्थानीय-स्वशासन की भागीदारी के बग़ैर असम्भव लगता है।

---

[47] एंगस देतो तथा ज्याँ द्रेज़ (2009) : 42-64, 42.

पुनरावलोकन

अराधकनगर तथा धनतला के पच्चीस वर्षीय अध्ययन में हमने देखा कि ग्रामीण एवं शहरी भारत के इन प्रतिबिम्बों में जहाँ माली हालात कुछ सुधरे हैं, वहीं कई समस्याएँ विकराल रूप भी धारण कर रही हैं। इनमें से कुछ पर बड़े विकासविदों का ध्यान गया है, परंतु कई ऐसी हैं जिन्हें विमर्शों में आवश्यक महत्त्व मिलता प्रतीत नहीं होता या पूरी तरह ही नज़रअंदाज़ कर दिया गया है। ग्रामीण भारत में सामुदायिक तनावों व सरकारी ज़्यादतियों की समस्याएँ हैं तथा शहरी भारत में जन-स्वास्थ्य को उपचार-व्यवस्था से ही पनप रहे नये ख़तरे और पुलिसिया आँकड़ों से परे बढ़ते अपराध विशेष रूप से स्मरणीय हैं। लेख के अंत में देश के विकास-विमर्श की इन रिक्तताओं के सम्भावित कारणों पर ग़ौर करना उचित होगा।

भारत का विकास-चिंतन न केवल पुराना है, बल्कि मौलिकता तथा मानकों के लिए विश्व स्तर पर विख्यात भी रहा है।[48] हाल के दशकों में इस विमर्श में विकास की परिभाषा को नया और सार्थक रूप भी मिला। दुर्भाग्य से विकास की परिकल्पना को आर्थिक उन्नति के साथ सामाजिक और राजनीतिक बेहतरी से भी जोड़ पाने के बावजूद अधिकतम विकासविदों ने इसे सुरक्षा तथा सौहार्द इत्यादि के लक्ष्यों से भी जोड़ना आवश्यक नहीं समझा। यह सच है कि अपंजीकृत-अपराध व प्रदूषित खाद्य-शृंखला जैसी समस्याओं को आमदनी तथा साक्षरता की तरह माप पाना सरल नहीं है। फिर भी तहसीलों के स्तर पर बहुविधि सर्वेक्षण केंद्र बना कर इन तकलीफ़ों को भी न केवल परखने की बहुत ज़रूरत है बल्कि सम्भावना भी है; और आज बहुत से संगठन इन पर जानकारियाँ इकट्ठी भी कर रहे हैं।[49]

इस परिप्रेक्ष्य में विमर्श की मुख्य धारा में आम जन की बढ़ी तकलीफ़ों के उपेक्षित रह जाने का कारण विचारों की राजनीति से भी जुड़ना हो सकता है। सम्भव है कि सुरक्षा तथा सुप्रशासन के मुद्दे बहुत से मध्यगामी तथा वामपंथी विचारकों द्वारा दक्षिणपंथ से जुड़े मान लिए जाने के कारण उस शिद्दत से नहीं उठाए गये जिस उत्साह से आर्थिक-समानता, सामाजिक-न्याय तथा पूर्ण-प्रजातंत्र के आदर्श उद्घोषित किये गये। हालाँकि आम जन की भय-मुक्त वातावरण में रहने की प्राथमिकता को दक्षिणपंथियों की सम्प्रदाय विशेष की 'सुरक्षा' के आग्रह से अलग करके आसानी से देखा जा सकता था। इसके बावजूद देश के बहुत से प्रगतिशील विचारकों ने असल में सामाजिक न्याय एवं सेकुलरवाद का चोगा पहन कर दक्षिणपंथ से लड़ने आये अपराधी व भ्रष्ट नेताओं को भी आसानी से समर्थन और वैधता प्रदान कर दी। इस भ्रमित प्रवृत्ति के पीछे भारतीय विद्वानों के एक बड़े धड़े के अत्यधिक रूप से पश्चिमकेंद्रित रह जाने की समस्या भी हो सकती है। चूँकि पश्चिम में नागरिकों की सुरक्षा स्वास्थ्य इत्यादि की चिंताएँ प्रशासन के स्तर पर आज बरत ली जाती हैं, उसी तर्ज़ पर शायद देश के प्रभावी विमर्शों में भी यह मान लिया गया है कि यहाँ भी अवाम के लिए बुनियादी सेवाएँ और भय-मुक्त वातावरण से ज़्यादा आर्थिक समानता एवं स्वतंत्रता इत्यादि के मुद्दे हैं।

संदर्भ

अमर्त्य सेन (2000), *डिवेलपमेंट एज़ फ्रीडम,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

अमृता दत्ता, जेरी रोज़र्स, जनीन रोज़र्स एवं बी.के.एन. सिंह (2012) 'अ टेल ऑफ़ टू विलेजेज़ : कंट्रास्ट्स इन डिवेलपमेंट इन बिहार', *वर्किंग पेपर,* इंस्टिट्यूट फ़ॉर ह्यूमन डिवेलपमेंट, नयी दिल्ली.

अभय कुमार दुबे (2016), 'फीका पड़ता भूमण्डलीकरण और भारत : बाजारपरस्ती बनाम पूँजीपरस्ती', *प्रतिमान समाज समय संस्कृति,* वर्ष 4, अंक 7.

अलख शर्मा (2014), *इण्डिया लेबर ऐंड एम्प्लॉयमेंट रिपोर्ट,* एकेडमिक फ़ाउण्डेशन, नयी दिल्ली.

---

[48] उन्नीसवीं शताब्दी में दादाभाई नौरोजी तथा रमेश चंद्र दत्त या उससे भी एक शताब्दी पहले राममोहन राय, भंडारकर इत्यादि की वैचारिक विरासत निश्चय ही भारतीय विकास-चिंतन व ग़रीबी उन्मूलन की योजनाओं को पूरे विश्व में विशिष्ट ऐतिहासिकता प्रदान करते हैं.

[49] सरकारी आँकड़ों के विकल्प के रूप में प्रदूषण तथा अपराध इत्यादि पर बेहतर जानकारियाँ एकत्रित करने वाले प्रतिष्ठित संगठनों में दिल्ली स्थित सेंटर फ़ॉर साइंस ऐंड एनवायरनमेंट तथा नैशनल ह्यूमन राइट्स कमीशन एवं पीयूसीएल प्रमुख हैं. ऐसे ही प्रयासों का हर ज़िले के स्तर पर अवतरण एक बड़ी चुनौती है.

आदित्य निगम (2011), *डिज़ायर नेम्ड डिवेलपमेंट*, , पेंगुइन बुक्स, नयी दिल्ली.

आंद्रे बेते (1965), *कास्ट, क्लास ऐंड पॉवर,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, न्युयॉर्क.

इंदिरा हिरवे (2014) 'मिसिंग लेबर फ़ोर्स : एन एक्सप्लेनेशन', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 47, अंक 37.

उत्सा पटनायक (2007), *द रिपब्लिक ऑफ़ हंगर ऐंड अदर एसेज़,* थ्री एसेज़ कलेक्टिव, नयी दिल्ली.

एंगस देतो तथा ज्यां द्रेज़ (2009), 'फ़ूड ऐंड न्यूट्रीशन इन इण्डिया', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 44, अंक 7, 14 फरवरी.

एंगस देतो तथा वालेरी कोजेल (2005), *डेटा ऐंड डॉग्मा : द ग्रेट इण्डियन पॉवर्टी डिबेट,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

एस. सुब्रह्मण्यम (2014), 'द पॉवर्टी लाइन : गेटिंग इट रोंग अगेन' *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 49, अंक 47, 22 नवम्बर.

के. सुंदरम (2013), 'सम रीसेंट ट्रेंड्स इन एम्प्लॉयमेंट ऐंड पॉवर्टी इन इण्डिया', *इण्डियन इकॉनॉमिक रिव्यू,* खण्ड 48, अंक 1.

ज्याँ द्रेज़ तथा अमर्त्य सेन (2013), *एन अनसर्टेन ग्लोरी,* ब्लूमबर्ग, लंदन.

ज़िग्मौन्त बाउमॅन (2003), *लिक्विड लव : ऑन द फ्रेअल्टी ऑफ़ ह्यूमन बांड्स,* पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

देवेश कपूर, चंद्रभान प्रसाद, लेंट प्रित्चेत तथा डी. श्याम बाबू (2010) 'रीथिंकिंग इनइक्वलिटी : दलित्ज़ इन द मार्केट रीफ़ॉर्म इरा', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 44, अगस्त 28.

देवेश विजय (2016क), *दलित्स ऐंड डेमॉक्रैसी : ट्रांज़ीशंस इन टू नॉर्थ इण्डियन कम्युनिटीज़,* हिमालय पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड, नयी दिल्ली.

--------(2016ख), 'लाइवलीहुड्स इन अ विलेज ऐंड अ स्लम', *जर्नल ऑफ़ लेबर इकॉनॉमिक्स,* खण्ड 58, संख्या 2, *इण्डियन सोसाइटी ऑफ़ लेबर इकॉनॉमिक्स,* नयी दिल्ली.

--------(2017), 'फ़ॉलिंग पॉवर्टी, राइज़िंग प्राईवेशंस', *इण्डियन जर्नल ऑफ़ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन,* खण्ड 63, संख्या 4, *इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ़ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन,* नयी दिल्ली.

नीलकंठ रथ (2011), 'मैज़रमेंट ऑफ़ पॉवर्टी इन रेट्रोस्पेक्ट ऐंड प्रोस्पेक्ट', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 46, संख्या 42, अक्टूबर.

परिवार एवं स्वास्थ्य कल्याण मंत्रालय, (2016) राष्ट्रीय पारिवारिक स्वास्थ्य सर्वेक्षण-6, अंतर्राष्ट्रीय जनसंख्या विज्ञान संस्थान, http://rchiips.org/NFHS/pdf/NFHS4/India.pdf.

प्रणब बर्धन (1989), *कन्वर्सेशंस बिटवीन एकोनोमिस्ट्स ऐंड एंथ्रोपोलोजिस्ट्स,* ऑक्सफ़र्ड युनिवसिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

फ़िलिप एन. जैफ़र्सन (2012), 'इंट्रोडक्शन ऐंड ओवरव्यू', जैफ़र्सन (सं.) *द इकॉनॉमिक्स ऑफ़ पॉवर्टी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्युयॉर्क.

भारतीय योजना आयोग (1993), *रिपोर्ट ऑफ़ द एक्सपर्ट ग्रुप ऑन एस्टीमेशन ऑफ़ द प्रपोर्शन ऐंड नम्बर ऑफ़ द पुअर,* भारत सरकार, नयी दिल्ली.

भारतीय योजना आयोग (2011), *प्रेस नोट ऑन पॉवर्टी एस्टिमेट्स,* भारत सरकार, नयी दिल्ली.

यर्लिनी बालाराजन व एस.वी. सुब्रह्मण्यम (2013), 'चेंजिंग पैटर्न्स ऑफ़ सोशल इनेक्वलिटीज़ इन अनीमिया अमंग वुमॅन इन इण्डिया', *बी.एम.जे. ओपन,* 30 अप्रैल 2013 को www.bmjopen.bmj.com पर देखा गया.

रमेश चाँद (2014), *फ़ार्मर्स इन्कम ऐंड न्यूट्रीशन सेक्युरिटी,* इंस्टीट्यूट ऑफ़ सोशल ऐंड इकॉनॉमिक चेंज, बेंगलुरु.

राकेश मलिक (2016), 'इण्डिया इज़ द डायबिटीज़ कैपिटल ऑफ़ द वर्ल्ड', *मुंबई मिरर,* 28 जनवरी.

रुचिका चित्रवंशी (2017), 'गवर्नमेंट फाइंड्स साइंटिफ़िक वे टू इम्पलीमेंट सोशल वेलफेयर प्रोग्राम्स, कॉम्बैट पॉवर्टी', *इकॉनॉमिक टाइम्स,* 4 जनवरी.

वी.सीतारमण, एस.ए. परांजपे तथा टी. कृष्णकुमार (1996), 'मिनिमम नीड्स ऑफ़ पुअर ऐंड प्रिओरिटीज़ अटैच्ड टू डेम' *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 46, संख्या 42.

शीला भल्ला (2014), 'बिहाइंड द पोस्ट 1991 चैलेंज टू द फ़ंक्शनल ऐफ़िशिएंसी ऑफ़ ऐस्टैब्लिश्ड इंस्टीट्यूशंस', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 42, संख्या 21.

सी.पी.चंद्रशेखर एवं जयति घोष (2011), 'वर्किंग लेस फ़ॉर मोर', *द हिंदू : बिज़नेस लाइन,* 23 अप्रैल.

सुरिंदर सिंह जोधका (2014), 'इमर्जेंट रूरलिटीज़', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 49, संख्या 24.

हर्बर्ट मार्क्यूज़ (1964), *वन डाइमेंशनल मैन,* रॉटलेज़, लंदन.